देव-पुरस्कार ग्रंथावली—१

भारतीय मूर्ति-कला

राय कृष्णदास

नागरीप्रचारिणी सभा काशी

१९९६

ग्रंथावली का परिचय

सोलहवीं शती में, भारत में जो नव-जीवन तरंगित हो रहा था उसमें बुंदेलखंड के महाराज वीरसिंहदेव का एक विशेष स्थान है। उन्होंने ओरछा नगर बसाया, वहाँ अनेक भव्य भवन और चतुर्भुज का बड़ा विशाल तथा सुंदर मंदिर बनाया एवं दतिया में तो ऐसा प्रासाद निर्माण किया जैसा मध्य-युग से आज तक उत्तर-भारत में बना ही नहीं। हिंदू वास्तु का यह नमूना संसार के खास भवनों में से है। हिंदी कविता में रीति-शैली के जन्मदाता आचार्य केशवदास उन्हीं के यहाँ राजकवि थे।

इसी बुंदेला राजवंश के समुज्ज्वल रत्न वर्तमान ओरछा-नरेश सवाई महेंद्र महाराज सर वीरसिंहदेव के० सी० एस० आइ० हैं, जिनका प्रगाढ़ हिंदी-प्रेम सराहनीय है। १९९० वि० में द्विवेदी-अभिनंदन-उत्सव के सभापति-आसन से, काशी में महाराज ने २०००) वार्षिक साहित्य सेवा के लिये, राज्य की ओर से देने की घोषणा की थी। इसी घोषणा का मूर्त-स्वरूप **देव पुरस्कार** है, जिसमें २०००) वार्षिक, एक साल व्रजभाषा के, दूसरे साल खड़ी बोली के सर्वोत्तम काव्य-ग्रंथ पर दिया जाता है। तदनुसार, १९९१ वि० में यह पुरस्कार व्रजभाषा की 'दुलारे दोहावली' पर श्री दुलारेलाल भार्गव को, १९९२ वि० में खड़ी बोली की 'चित्र-रेखा' पर श्री रामकुमार वर्मा को तथा १९९३ वि० में व्रजभाषा के 'राम-चंद्रोदय काव्य' पर श्री रामनाथ 'जोतिसी' को दिया गया।

१९९४ वि० में पुरस्कार-योग्य पुस्तक का अभाव रहा। अतएव **पुरस्कार** के इस नियम के अनुसार कि, जिस वर्ष पुरस्कार-योग्य ग्रंथ न हो उस वर्ष की पुरस्कार-निधि उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन में लगाई जाय, **पुरस्कार** की संचालक संस्था श्रीवीरेंद्र-केशव-साहित्य परिषद्, टीकमगढ़ ने एक एक हजार रुपया हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग तथा नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को प्रकाशनार्थ प्रदान किया।

सभा ने इस निधि को सधन्यवाद स्वीकार करते हुए निश्चय किया कि इससे **देव-पुरस्कार-ग्रंथावली** का प्रकाशन किया जाय, जिसमें कला और विज्ञान आदि की अच्छी से अच्छी पुस्तकें सुलभ मूल्य पर निकाली जायँ। इस संबंध में हमें जैसे लेखकों का सहयोग प्राप्त हो रहा है उससे पूरी आशा है कि उक्त सात्विक दान द्वारा प्रसूत यह ग्रंथावली अपने उद्देश्यों में सर्वथा सफल होगी।

—प्रकाशक

वार्तिक

(उक्तानुक्तदुरुक्तानां व्यक्तकारि तु वार्तिकम्)

§ २. पृ० ३, पं० ११. 'यहाँ' के बाद जोड़िए—मोहनजोदड़ो-संस्कृति के केंद्रों को छोड़कर, ।

§ १०. पृ० ११, पं० १४. 'भारत' के बाद बढ़ाइए—के अधिकांश ।

§ १४. वर्तमान 'ग—' को 'घ—' बनाइए तथा उसके पूर्व जोड़िए—

> ग—पिछले मौर्यकाल से कुषाणकाल तक की पुरुष-मूर्तियों के सिर पर उष्णीष (मुँड़ासा) अवश्य रहता है, जिसमें आगे की ओर एक पोटली-सी होती है (फलक–६ ख)। इन मूर्तियों में उसका अभाव है ।

§ ३४. अंतिम वाक्य को इस प्रकार पढ़िए—उक्त दोनों मूर्तियाँ पिछले मौर्य वा आरंभिक शुंगकाल की हैं (देखिए–§ १४ ग) ।

इसी के अनुसार फलक—११क के विवरण में भी संशोधन कीजिए ।

§ ७२. पं० १५-१६ 'तालवृक्ष (ताड़)' को कीजिए—खजूर वृक्ष (खजूर) ।

§ ८८ क, पं० २. 'यह स्थान' के बाद बढ़ाइए—अजंता से कोई पचास मील के भीतर, ।

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय मूर्तिकला की आलोचना, तात्त्विक व्याख्या, प्रारंभिक सिद्धांत, सैांदर्य-प्रेक्षण तथा उसके इतिवृत्त एवं उससे संबंध रखनेवाले राजनीतिक इतिहास आदि का एक विलक्षण गड्डमड्ड है। इस अद्‌भुत मिश्रण का एकमात्र कारण यह है कि हिंदी के पाठक-समुदाय में से अधिकांश के लिये यह विषय बिलकुल नया है। अतएव उनके आवश्यकतानुसार ऐसी कुल बातें कह देनी थीं जिनसे उन्हें भारतीय मूर्तिकला का व्यापक आरंभिक परिचय ही न हो जाय, बल्कि उसके प्रति रुचि भी उत्पन्न हो।

'मूर्तिकला' के ऐतिहासिक अंशों के लिये हम भाई जयचंद्रजी के अद्वितीय ग्रंथ 'इतिहास-प्रवेश' एवं 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' के ऋणी हैं। इनके कितने ही अंशों को प्रायः ज्यों का त्यों ले लेने की ढिठाई हमने उस आत्मीयता के बूते पर की है जिसका भागी बनाकर उन्होंने हमें बड़भागी किया है। इस पोथी के निर्माण में जिन दूसरे ग्रंथों की सहायता ली गई है उनकी सूची अन्यत्र दी जाती है। इन ग्रंथों से लाभ उठाने के लिये हम इनके लेखकों के आभारी हैं। इस विषय का अधिक अध्ययन करने के लिये इनमें के अधिकांश ग्रंथ पठनीय हैं।

इस पुस्तक के काल-विभाग कला-शैलियों के अनुसार दिए गए हैं। इनका सामंजस्य ऐतिहासिक काल-विभाग से इस प्रकार हो जाता है कि एक शैली का प्रभाव एकाएक समाप्त नहीं हो जाता। राजनीतिक परिवर्तन होने पर भी वह कुछ काल तक बना रहता है।

'मूर्तिकला' का काम इतनी जल्दी में निबटाना पड़ा है कि इसमें बहुतेरे अभाव और त्रुटियों का रह जाना अनिवार्य है। प्रार्थना है कि ऐसी भूलों के संबंध में समुचित सूचना दी जाय कि अगले संस्करण में हम अपनी त्रुटियों का निराकरण कर सकें। तब तक के लिये इस संबंध में हमें क्षमा प्रदान की जाय।

इसके वर्तमान संस्करण में तैंतीस चित्र-फलक दिए जा रहे हैं। इनमें से फलक—५, ८, ६, १२, १३, १५ क, १७, १९, २५, २७, ३० और ३२ के लिये हम सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग, के; फलक—१० ख, १५ ख, २० क, २१, २२, २६, २८, २६ और ३१ के लिये गीता प्रेस, गोरखपुर, के तथा फलक—२० ख के लिये इंडियन प्रेस, प्रयाग, के कृतज्ञ हैं।

कलाभवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष श्री० विजयकृष्ण ने ब्लाकों के तैयार कराने और छपवाने में तथा सर्वश्री शंभुनारायण चतुर्वेदी, काशीप्रसाद श्रीवास्तव एवं शंभुनाथ वाजपेयी ने 'मूर्तिकला' की कापी तैयार करने में जो परिश्रम किया है उसके लिये उन्हें सतत धन्यवाद है।

और, सर्वोपरि साधुवाद है श्री० लल्लीप्रसादजो पांडेय का जिनके हार्दिक और सक्रिय सहयोग के बिना पुस्तक जाने कब निकल पाती एवं उसमें भाषा तथा प्रूफ की जाने कितनी भूलें रह जातीं।

काशी,
रथयात्रा, १९९६.

—कृष्णदास

तालिका

सहायक ग्रंथ तथा उनके निर्देश

नाम	निर्देश
'कल्याण', शिवांक (पृ० ५४७–६३०), गोरखपुर, १९९० वि०।	
कुमारस्वामी, आनंद के.,—	
* इंट्रोडक्शन टु इंडियन आर्ट, मद्रास, १९२३.	
* हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेसियन आर्ट, लंदन, १९२७—	इंडोन
जयचंद्र विद्यालंकार—	
* इतिहास-प्रवेश, प्रयाग, १९३८.	
भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, प्रयाग, १९३३—	रूपरेखा
जायसवाल, का० प्र०,—	
अंधकार-युगीन भारत, काशी, १९९५ वि०—	अंधकार०
नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण—	ना.प्र.प. (नवीन०)
स्मिथ, विन्सेंट ए०,—	
* अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, ऑक्सफर्ड, १९३०—	स्मिथ
हैवेल, ई० बी०,—	
* अ हैंडबुक ऑव इंडियन आर्ट, लंदन, १९२०.	

---

* विशेष अध्ययन के लिये उपयोगी।

भारतीय मूर्तियों के मुख्य संग्रहालय

तक्षशिला (पंजाब), लाहौर, मथुरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस—भारत-कला-भवन तथा सारनाथ, पटना, नालन्द, कलकत्ता—इंडियन संग्रहालय तथा वंगीय-साहित्य-परिषद्, राजशाही—वारेंद्र रिसर्च सोसाइटी, बंबई—प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, मदरास, कोलम्बो, लंदन—ब्रिटिश संग्रहालय तथा साउथ केंसिंगटन संग्रहालय, बोस्टन (अमरीका)।

पारिभाषिक शब्द

सं० = संज्ञा, वि० = विशेषण, क्रि० = क्रिया

अंग-कद—सं० (अंग + कद) अंगों का कद के हिसाब से छोटा वा बड़ा न होना; साथ ही कद का भी, अपने भाव में, उचित माप का होना अर्थात् नाटा वा लंबा न होना।

अभिप्राय—सं० कोई चल वा अचल, सजीव वा निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति, मुख्यत: सजावट के लिये किसी कला-कृति में बनाई जाय। महाभारत, सभापर्व में यह शब्द इस अर्थ में आया है। भारतीय-कला के कुछ मुख्य अभिप्राय ये हैं—मकर, हाथी, सिंह, शार्दूल, मयूर, पूर्णघट, नवनिधि, कीर्तिमुख, हंस, स्वस्तिक, चक्र, त्रिरत्न, पर्वत, सूर्य, जल, यक्ष।

आदम-कद—वि० आदमी की ऊँचाई के बराबर कोई चित्र वा मूर्ति।

कैंडा—सं० देखिए पृ० २६, नोट १.

कोरना—क्रि० चारों ओर से गढ़ना कि मूर्ति बेलाग हो जाय।

खँडहर—सं० किसी कृति में व्यर्थ खाली छूटी जगह जिसके कारण कृति अरम्य लगे।

गोमूत्रिका—सं० इस आकृति की ~~~ बेल। बैल जब चलता रहता है तो उसके मूत्र का चिह्न उक्त आकार का पड़ता है। बैल-मूतनी; बरद-मुतान।

गोला-गलता—सं० (गोला + गलता) ये दोनों इमारती साज हैं। गोला, उभार में वृत्त का कोई अंश। गलता, उसका ठीक उलटा अर्थात् गोलाई में धँसा हुआ। दोनों मिले हुए गोला-गलता कहे जाते हैं।

चौसल्ला—सं० इमारत की नीव में सबसे नीचे दिए गए शहतीर, कि इमारत धँसे नहीं; जैसे आज गिट्टी कूटते हैं।

छेंकन—सं० इमारत का वह विभाजन जो धरातल के बराबर रहता है और जिस पर इमारत उभरती है (ले-आउट)। इसके नकशे को **पड़ा-नकशा** (ग्राउन्ड प्लैन) कहते हैं।

ज्यामितिक आकृति—सं० सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों और वृत्तांशों से बना अलंकरण।

झोकदार—वि० मुख्यतः छज्जे के लिये; जो समरेखा से नीचे की ओर झुका हो और उस रेखा से १८०° से ३६०° के भीतर के कोण बनाता हो।

डौल—सं० मूर्ति आदि में आवश्यकतानुसार उभार वा दबाव।

डौलियाना—क्रि० (डौल से) दे० पृ० २ नोट २.

तमंचा—सं० चौखट के अगल बगल के पत्थर।

तरह—सं० रचना-प्रकार, आलंकारिक अंकन (डिज़ाइन)।

दम-खम—सं० जानदार—बिना टूटवाली, एवं गोलाई लिए—वंकिम (मूर्ति की गढ़न वा चित्र की रेखाएँ)।

दृष्टि-परंपरा—सं० दर्शक को यथाक्रम एक के बाद दूसरी वस्तु दीख पड़ने की अभिव्यक्ति (पर्सपेक्टिव)।

पंजक—सं० हाथ के पंजे का 'अभिप्राय'। शुभकार्य में स्त्रियाँ भीतों पर अपने पंजे की छाप (थापा) लगाती हैं उसी का आलंकारिक अंकन।

परगहा—सं० खंभे के ऊपर वा नीचे का साज (अलंकरण)।

पृष्ठिका—सं० किसी मूर्ति वा चित्र में दिखाया गया सबसे पीछे का भाग जो अंकित दृश्य वा घटना का आश्रय होता है (बैक्ग्राउंड)।

फुल्ला—फुल्ल कमल की आकृति का (गोल) अलंकरण।

मुकुंद—सं० नवनिधियों में से एक। इस 'अभिप्राय' को मूर्ति-कला में ऐसे क्षुप द्वारा दिखाते हैं, जिसकी पत्तोंवाली एक सीधी शाखा बीच में एवं दो दो तीन तीन वंक शाखाएँ इधर उधर रहती हैं।

वास्तु—सं० स्थापत्य, इमारत की शैली, भवनों का प्रकार (आर्किटेक्चर)।

वास्तुक—सं० इमारत का शिल्पी, भवन-निर्माता।

संयोजन—सं० किसी अंकन में प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न करने के लिये आकृतियों को ठीक ठिकाने 'बैठाना' (=सुहाना)।

स्व० काशीप्रसाद् जायसवाल

के

अमर आत्मा को
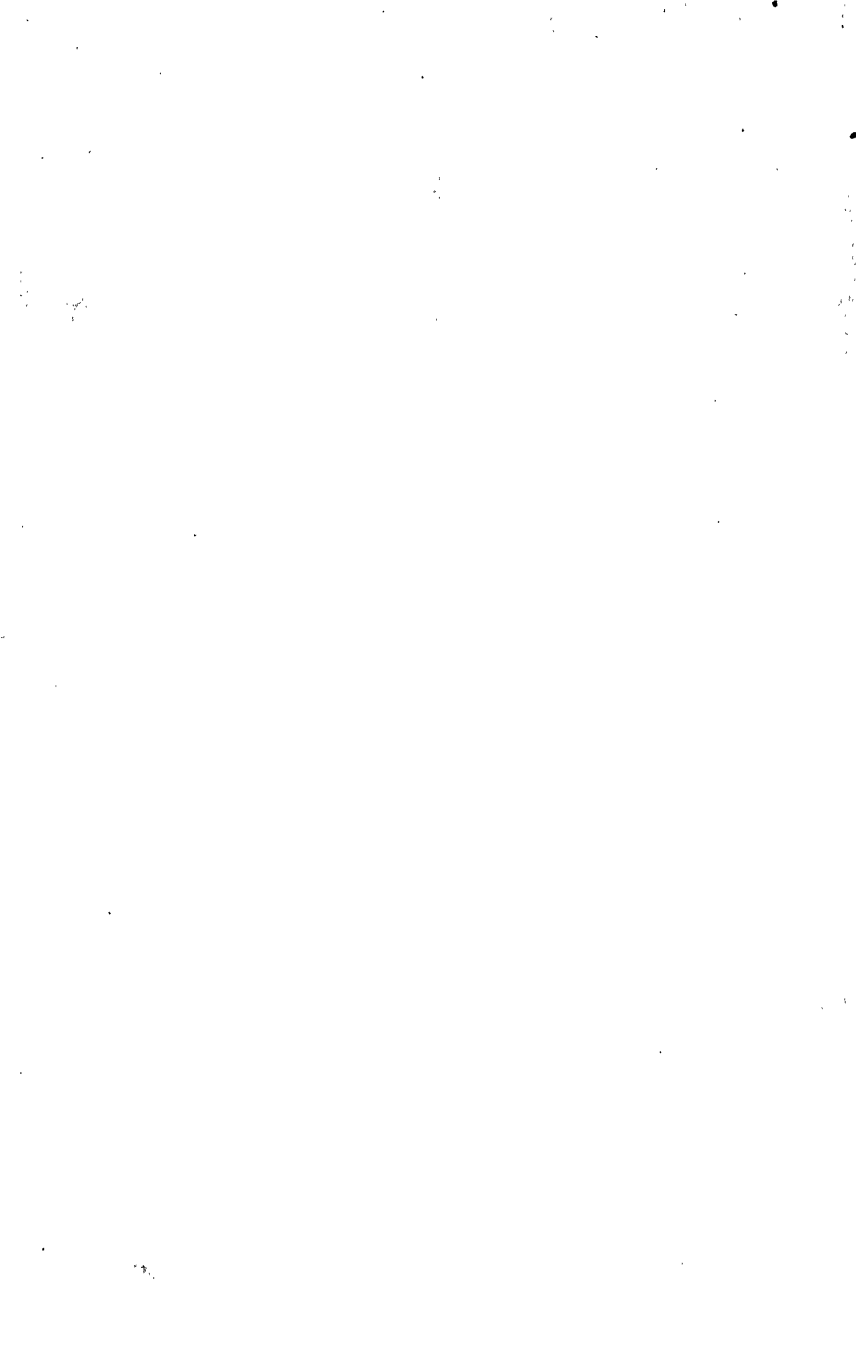
प्रसाधिका

कुषाण; मथुरा शैली; भारत-कला-भवन, काशी

भारतीय मूर्ति-कला

पहला अध्याय

परिभाषा

§ १. भारत में, जहाँ के अधिकांश निवासी मूर्ति-पूजक हैं, यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं कि मूर्ति क्या है। सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, पीतल, अष्टधातु आदि सभी प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची वा पकाई मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट

आदि उपादानों को—उनके स्वभाव के अनुसार—गढ़कर, खोदकर, उभारकर, कोरकर[1], पीटकर, हाथ से वा औजार से डौलियाकर[2], ठप्पा करके वा साँचा छापके (अर्थात् जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो एवं जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो), उत्पन्न की हुई आकृति को मूर्ति कहते हैं। किन्तु आज मूर्ति का अर्थ हमारे यहाँ इतना संकुचित हो गया है कि हम उसे एकमात्र पूजा की वस्तु मान बैठे हैं, सो भी यहाँ तक कि उसकी पूजा करते हैं, उसमें पूजा नहीं। परन्तु वस्तुतः मूर्ति का उद्देश्य इससे कहीं व्यापक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

प्रागैतिहासिक काल; मोहनजोदड़ो; वैदिककाल

[ई० पू० १०वीं १२वीं सहस्राब्दी से २सरी सहस्राब्दी तक]

§ २. मानव-सभ्यता का विकासक्रम, जो प्रायः दस-बारह हजार वर्ष पूर्व से वा उसके भी पहले से चलता है, इस प्रकार मिलता है—

१. **प्रारंभिक प्रस्तर-युग,** जिसमें मनुष्य केवल अनगढ़ पत्थर के औजार और हथियार काम में लाता था।

१—चारों ओर से गढ़कर।

२—हाथ से उपकरण को, जहाँ जैसी आवश्यकता हो, ऊँचा उठाकर वा नीचे दबाकर आकृति उत्पन्न करना।

२. **विकसित प्रस्तर-युग**, जिसमें ये औजार और हथियार चिकने और पालिशदार बनने लगते हैं।

३. **ताम्रयुग**, जिसमें मनुष्य अग्नि के आविष्कार के फलस्वरूप ताम्र का आविष्कार करके उसका उपयोग करने लगता है।

४. **कांस्ययुग**, जिसमें ताँबे के साथ राँगा मिलाकर वह अपने शस्त्र और उपकरण आदि बनाता है और अंततः —

५. **लौहयुग**, जिसमें लोहे का आविष्कार तथा प्रयोग करके वह बड़े बड़े करिश्मे कर दिखाता है।

यही लौहयुग आज भी चल रहा है।

किन्तु जहाँ तक भारत का संबंध है, इस क्रम में यह अंतर पाया जाता है कि यहाँ कांस्ययुग का अभाव है; ताम्रयुग के बाद एकबारगी लौहयुग आ जाता है। इसका विशेष कारण है, जैसा कि हम आगे देखेंगे (§ १०)।

इस विकास-क्रम के आरंभ से ही मनुष्य, चित्र की भाँति, मूर्ति भी बनाने लग गया था। उस समय पृथ्वी पर वर्तमान हाथी का पूर्वज एक ऐसा हाथी होता था जो डीलडौल में इससे कहीं बड़ा था, उसके तन पर बड़े बड़े बाल होते थे और दाँत का अग्रभाग इतना सीधा न होकर घूमा हुआ होता था। इसका तुल्यकालीन अहेरी मनुष्य इसी के दाँत पर इसकी आकृति खोदकर छोड़ गया है, एवं इसी उपादान की, कोरकर बनाई गई, घोड़े की एक प्रतिमा

भी छोड़ गया है जो आज-कल भी सुन्दर ही कही जायगी। इसी प्रकार, किंतु उक्त समय से कई हजार वर्ष इधर, उसने उस समय के टट्टुओं की आकृति भी अस्थि पर बनाई है। ये कृतियाँ मूर्तियों की प्रपितामही कही जा सकती हैं।

§ ३. ई० पू० ५वीं ६ठीं सहस्राब्दी से नागरिक सभ्यता का आरम्भ हो गया था। उस समय से मनुष्य मिट्टी, धातु, पत्थर और पत्थर पर गच (पलस्तर) की हुई पूरी **डौल** वाली मूर्तियाँ बनाने लग गया था। ताँबे, काँसे, सींग, अस्थि, हाथीदाँत और मिट्टी पर उभारकर, वा उभरी हुई रूपरेखाएँ बनाकर वा इन रेखाओं को खोदकर तरह तरह की आकृतिवाले टिकरे वा सिक्के की सी कोई चीज भी वह बनाता था। किंतु उन दिनों जो जातियाँ अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई थीं वे भी मानव-आकृति का भान करानेवाली ताँबे की पीटी हुई मोटी चादर की आकृतियाँ बनाती थीं जिनके अँवठ का कुछ अंश उठा हुआ होता था (देखिए फलक-१क)। ये आकृतियाँ पूजा के लिये बनाई गई जान पड़ती हैं।

§ ४. मूर्ति बनाने में आरंभ से ही मनुष्य के मुख्यत: दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना। यदि हम सारे संसार की सब काल की प्रतिमाओं का विवेचन करें तो उनका

निर्माण बिना देश-काल के बंधन के मुख्यतः इन्हीं दोनों प्रेरणाओं से पावेंगे। ऊपर जिन प्रारंभिक मूर्तियों की चर्चा हुई है उनमें भी इन्हीं प्रवृत्तियों का बीज मिलता है, अर्थात् हाथी और घोड़े की आकृतियाँ बनाकर मनुष्य ने अपने इर्द गिर्द के जंतु-जगत् की ओर संभवतः उसके ऊपर अपने विजय की स्मृति सुरक्षित की है। इसी प्रकार मनुष्य-आकृति का इंगित करनेवाले ताँबे के टुकड़े बनाकर उसने अपनी अमूर्त आध्यात्मिक भावना को आधिभौतिक रूप दिया है। देखा जाय तो मानवता का विकास वस्तुतः इन्हीं दो विशेषताओं पर अवलंबित है—अतीत का संरक्षण और अव्यक्त की मूर्त अभिव्यक्ति।

मूर्ति-कला में ऐतिहासिक मूर्तियाँ पहले सिरे के अंतर्गत और धार्मिक तथा कलात्मक मूर्तियाँ दूसरे सिरे के अंतर्गत हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक भावना में—उपासना में—जो अतींद्रिय, बुद्धिग्राह्य, आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है वा रागात्मक अभिव्यक्ति में जो लोकोत्तर सुख है वह और कुछ नहीं निराकार को, बुद्धिग्राह्य को अर्थात् भाव को साकारता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में मूर्ति, चित्र, कविता वा संगीत के रूप में परिवर्तित करना है। हमारे देश की मूर्तिकला ने मुख्यतः इसी दूसरे लक्ष्य की ओर अपना सारा ध्यान रखा है। भौतिक रूप का निदर्शन न करके तात्त्विक रूप का निदर्शन ही उसका मुख्य उद्देश्य है जैसा कि हम आगे देखेंगे।

§ ५. भारत की सबसे प्राचीन मूर्तियाँ सिंध काँठे के मोहन-जोदड़ो और हड़पा के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष में मिली हैं। ऐसे नगरों की एक माला सारे सिंध काँठे में और उसके पश्चिम बलूचिस्तान तक तथा संभवतः इधर गंगा, यमुना एवं नर्मदा के काँठे तक व्याप्त थी। ये नगर ३००० ई० पू० के आसपास के हैं, किंतु इनमें मानव सभ्यता की बहुत उन्नत अवस्था पाई जाती है। इनमें के मकान पक्की ईंटों के बने हैं जिनका माप (१०¼" × ५" × २½) लगभग आजकल के ईंटों का है। इन बस्तियों के रास्ते चौड़े और सुविभक्त हैं, नालियों का बहुत अच्छा प्रबंध है। इनमें बसने-वालों का व्यापारिक संबंध लघु एशिया तक था। वे अच्छे पोत के सूती कपड़े बनाते थे जो उनके व्यापार का एक मुख्य बाना था। इस सभ्यता की वहाँ की सभ्यता से बहुत कुछ समानता के कारण कुछ पंडितों की तो यहाँ तक धारणा है कि यही सभ्यता अपने भार-तीय दायरे से लेकर लघु एशिया तक फैली हुई थी। अस्तु, ये लोग खेती भी करते थे। इनके गेहूँ के दाने उक्त खँडहरों में मिले हैं और पाँच हजार बरस बाद पुनः उगाए गए हैं। ये लोग सोने के कलापूर्ण आभूषण बनाते और पहनते थे एवं उपरत्नों के सुंदर मनके बनाकर धारण करते थे। लोहे का आविष्कार यद्यपि उस समय तक नहीं हुआ था किंतु उसका सारा काम वे ताँबे से लेते थे और

बड़ी सफलता से लेते थे। धनुष-बाण का व्यवहार उन्हें संभवतः नहीं आता था।

§ ६. पकाई मिट्टी के रँगे हुए बर्तन वे काफी तादाद में छोड़ गए हैं। मिट्टी की, पत्थर की (फलक—१ख) तथा ताँबे की मूर्तियाँ और सबके ऊपर टिकरे भी वे बहुत छोड़ गए हैं। ये

आकृति—२

आकृति—१

आकृति—३
(धनुष-बाण-धारी आर्य ?)

१—मोहनजोदड़ो का मिट्टी का खिलौना; २,३—वहीं की ताँबे के फलक पर उभरे सरहद की मूर्तियाँ

टिकरे हाथीदाँत के तथा नीले वा उजले रंग के एक प्रकार के काँच के हैं और आकार में चौखूँटे हैं। इन पर डील (ककुद्) वाले और बे डील वाले बैल, हाथी (जिस पर झूल के कारण जान पड़ता है कि वह सवारी के काम में आता था), बाघ और गैंड़े की, तथा पीपल के पत्तों की एवं अनेक प्रकार की अन्य आकृतियाँ मिलती हैं और चित्रलिपि के, एक पंक्ति से तीन पंक्ति तक के, उभरे हुए लेख भी होते हैं (फलक–२)। पीछे की ओर लटकाने वा पहनने के लिये छेद होता है[१]। इनके उपयोग का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है, किंतु इतना निश्चित है कि ये मुहर नहीं हैं अन्यथा इनपर उभारदार काम न होता जिसकी छाप धँसी हुई साँचे जैसी अर्थात् उलटी होगी।

§ ७. हमारी वर्तमान सभ्यता से इस जाति का क्या संबंध था, इसका पता अभी तक नहीं लग पाया है। उक्त चित्रलिपि जिस दिन पढ़ ली जायगी उस दिन यह समस्या हल हो जायगी।

१—लघु एशिया के किश नामक, उसी युग के, प्राचीन नगर में एक ज्यों का त्यों ऐसा टिकरा मिला है। अंतर इतना ही है कि वह गौरा जाति के मुलायम पत्थर का बना है। उसकी प्राप्ति दोनों सभ्यता को एक माननेवालों का सबसे बड़ा प्रमाण है। किंतु एक ही टिकरे का मिलना केवल इतना सिद्ध कर सकता है कि सिंधवालों का वहाँ तक आना जाना अवश्य था।

तब तक इतना कहा जा सकता है कि उक्त टिकरों पर जो चिह्न और आकृतियाँ आती हैं उनमें से कई ई० पू० ७वीं ८वीं शती से ईसवी सन् के आसपास तक के हमारे सिक्कों पर विद्यमान हैं और इन सिक्कों का निश्चित रूप से हमारे ऐतिहासिक राजवंशों से संबंध है। सिंध काँठे की सभ्यता में अकीक के मनकों पर एक विशेष प्रकार के सफेद रंग की धारियाँ, बिंदु तथा अन्य प्रकार की तरह बनाने का हुनर था। यह कौशल भी उक्त सिक्कों के काल तक चलता रहता है। इसी प्रकार सिंध काँठे की एक मिट्टी की मूर्ति के गहने उन गहनों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं जो उक्त शतियों की भारतीय आर्य नारियों के अंगों को सजते थे। इन बातों से इतना पता तो चलता है कि उस लुप्त संस्कृति की परम्परा हमारी संस्कृति से भी संबद्ध है।

§ ८. सबसे बढ़कर मोहनजोदड़ो की भूमिस्पर्श मुद्रा में पद्मासन लगाए एक साधक की मूर्ति है जो बुद्ध की मूर्ति का निर्विवाद पूर्व रूप है। फलक—१ ख में वहीं का जो मूर्तिखंड दिया गया है उसकी दृष्टि नासाग्र है। भूमिस्पर्श मुद्रा वाली मूर्ति से तथा इस मूर्ति से प्रतिपादित होता है कि उन जातियों में योगसाधन विद्यमान था जहाँ से वह आर्यधर्म में आया। आर्यधर्म के तीनों ही स्कंधों—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—में योग की विद्यमानता से भी इस बात की पुष्टि होती है। अर्थात्

इन स्कंधों के फूटने के पूर्व से ही योगसाधन आर्य संस्कृति में आ चुका था तभी वह दाय के रूप में इन तीनों में बँट गया।

§ ६. यह सब होते हुए भी सिंध-निवासी आर्य नहीं जान पड़ते। वे संभवत: उस जाति के थे जिसे ऋग्वेद में दस्यु कहा है और जिसके बड़े बड़े पुरों की चर्चा उसमें आई है। वर्तमान द्रविड़ जातियाँ, जो मुख्यत: दक्षिण भारत में बसती हैं, इसी परम्परा की जान पड़ती हैं जो आर्यों से ढिलकर वहाँ बस गईं। बलूचिस्तान में द्रविड़-भाषा-भाषियों का एक क्षेत्र है। ये लोग ब्राहूई कहे जाते हैं। फिर मध्य भारत के गोंड़ भी द्राविड़ भाषा बोलते हैं। इन लोगों के निवास-प्रदेश मूल द्राविड़-भूमि के पश्चिमोत्तर और दक्षिणी सीमान्तों के सूचक हैं। द्राविड़ बोलियों में उस प्रकार की शृंखला नहीं है जैसी भारतीय आर्यभाषाओं में है। इससे भी जान पड़ता है कि उनके अलग अलग जत्थे किसी कारणवश एक ठौर में बस गए हैं। यह कारण आर्यों से हटाए जाना ही हो सकता है।

§ १०. आर्य भारत में कहाँ से आए, यह बड़ा विवादग्रस्त प्रश्न है किन्तु इसके संबंध में पुराणों से यही जान पड़ता है कि वे कहीं से आए-गए नहीं, पहले कश्मीर-पामीर में केंद्रित थे फिर वहाँ से (लगभग ई० पू० ३सरी सहस्राब्दी में) सरस्वती प्रदेश में (वर्तमान अंबाला और उसके इर्द-गिर्द) तथा देश में अन्यत्र

छिटके। इसके पहले उक्त कश्मीर-पामीर केंद्र से उनकी धाराएँ उत्तर को भी बह चुकी थीं जिनकी शाखाएँ यूरोप की आर्य जातियाँ हैं; किंतु गांधार, ईरान और लघु एशिया के आर्य भारत के मैदानों से उस ओर गए। गंगा-सिंध काँठों के आर्य धनुष-बाण, घोड़े तथा रथ का प्रयोग करते थे। दस्युओं पर उनकी जीत का मुख्य कारण ये साधन भी हैं। लोहा भी उन्हें मिल चुका था। अपने यहाँ एक कथा है कि लौहासुर पर्वत-कंदराओं में रहा करता था। उसे मारकर विष्णु ने अपनी कौमोदकी गदा बनाई। यह आर्यों के लोहा प्राप्त करने का पौराणिक रूप है। १५०० ई० पू० के लगभग लघु एशिया के प्रवासी भारतीय आर्य खत्ती (जिन्हें आज-कल हेटाइट कहते हैं) लोहे को पूर्ण रूप से बर्तते थे, यहाँ तक कि उन्हीं की एक शाखा ने ग्रीकों को उसका इस्तेमाल सिखाया था[१]।

भारत में ताम्रयुग के बाद एकदम से लौहयुग पाए जाने का अर्थात् कांस्ययुग के अभाव का यही कारण है कि ताम्रयुग के बीच में ही आर्यों ने, जो लोहे का इस्तेमाल जान चुके थे, अपनी विजय द्वारा कांस्ययुग की आवश्यकता न रहने दी। आर्यों के इन सांस्कृतिक ब्योरों से जान पड़ता है कि अपने नागरिक पड़ोसियों से

१—कुमारस्वामी, इंडोन० पृ० ७.

वे कहीं आगे बढ़े थे; भले ही उनमें नागरिक सभ्यता न रही हो। फलतः उनका कला-कौशल भी अधिक विकसित रहा होगा जिसके मुख्य साधन, उपकरण और उपादान लोहा और लकड़ी रहे होंगे। उनके रथ और धनुष-बाण पर अवश्य काम बना रहता होगा।

§ ११. उस समय के ये भारतीय आर्य जिन देवताओं की उपासना करते थे—जैसे अग्नि, इंद्र, सविता, मित्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, इत्यादि—वे चाहे प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों के साकार रूप हों वा वीर-पूजा से विकसित हुए हों, हर हालत में उनके रूप का जो वर्णन वेदों में आता है उससे यही जान पड़ता है कि उनकी मूर्तियाँ अवश्य बनाई जाती थीं। इतना ही नहीं, एक विद्वान् ने वेदों के ही बड़े पक्के प्रमाणों से उस समय मूर्तियों का होना सिद्ध कर दिया है[1]। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् स्वर्गीय मैकडनल ने भी इस मत को सकारा था[2]। इस विषय में एक वैदिक उल्लेख तो बिल्कुल निर्विवाद है। ऋग्वेद का एक मंत्रकार अपने एक मंत्र में पूछता है—कौन मेरे इंद्र को मोल लेगा[3]? यहाँ स्पष्टतः इंद्र की मूर्ति अभिप्रेत है जिसे उस मंत्रकार ने बनाया था वा जिसे वह पूजता था।

१—श्री वृंदावन भट्टाचार्य एम० ए० कृत, इंडियन इमेजेज़ (भारत कलाभवन, काशी), प्रस्तावना।

२—रूपम्, अंक ४, १६२०.

३—ऋग्वेद–४।२४।१०.

इस वैदिक देवमंडल में अदिति, पृथिवी, श्री, अंबिका आदि देवियाँ भी हैं। ऐसी अवस्था में कुछ विद्वानों का यह मत, कि देवियों की उपासना आर्यों ने अनार्यों से ली, बहुत संदिग्ध हो जाता है। इन प्राचीन देव-देवियों की कोई मूर्ति अभी तक असंदिग्ध रूप से उपलब्ध नहीं हुई है, किंतु उचित प्रदेशों में समुचित गहराई तक खुदाई होने पर इनका मिलना निश्चित है।

शैशुनाक तथा नंदकाल

[७२७—३२५ ई० पू०]

§ १२. भारत में अब तक ऐतिहासिक काल की जो सबसे पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं वे मगध के शैशुनाक वंश (७२७—३६६ ई० पू०) के कई राजाओं की हैं जैसा कि उनपर के खुदे नामों से विदित होता है[1]। उस समय भारतवर्ष सोलह महाजनपदों वा बड़े-बड़े प्रदेशों में बँटा हुआ था जिनमें कहीं गणतंत्र (पंचायती) और कहीं राजतंत्र शासनप्रणाली चलती थी। मगध इन सब में प्रबल पड़ता था। उक्त शैशुनाक मूर्तियों में सबसे पुरानी अजातशत्रु की है जो बुद्ध का तुल्यकालीन था और ५५२ ई० पू० में गद्दी पर बैठा

१—ना० प्र० प०(नवीन० भाग १,१६७७ वि०), पृ०४०-८२। भास के प्रतिमा नाटक से पता चलता है कि मरने पर राजाओं की मूर्तियाँ बनाकर एक देवकुल (देवल) में रखी जाती थीं और उनकी पूजा होती थी। वही, पृ० ६५—१०८.

था। यह प्रथा संभवतः महाभारत काल से चली आती थी और ईसवी सन् में भी कई शतियों तक, गुप्तों के समय तक, प्रचलित थी। राजपूतों ने भी संभवतः इसे कायम रखा था। अस्तु, अजातशत्रु की मृत्यु ५२५ ई० पू० में हुई थी, अतएव यह मूर्ति (ऊँचाई ८'.८") उसी वर्ष की वा उससे एकाध साल इधर की होनी चाहिए। यह मथुरा के परखम नामक गाँव में मिली थी और इस समय मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है (फलक—३)। अजातशत्रु के पोते अजउदयी (जिसने पाटलिपुत्र बसाया था; मृत्यु ४६७ ई० पू०) तथा उसके बेटे नन्दिवर्धन (मृत्यु ४१८ ई० पू०) की मूर्तियाँ कलकत्ता संग्रहालय में संगृहीत हैं। ये पटने के पास मिली थीं।

§ १३. ये तीनों मूर्तियाँ एक ही शैली की हैं तथा आदमी से भी ऊँची-पूरी हैं। इनकी शैली इतनी विकसित है कि उसका आरंभ ई० पू० छठी शती से कई सौ वर्ष पहले मानना पड़ेगा। इस शैली में काफी वास्तविकता है। मूर्तिकार जिस व्यक्ति की मूर्ति बना रहा है उसकी वस्तु-मूर्ति बना रहा है, भाव-मूर्ति नहीं; अर्थात्, अतीत के संरक्षण की आदिम मानव प्रवृत्ति इसमें पूर्णतः मौजूद है। कुछ विद्वानों ने इन मूर्तियों को यक्ष मूर्ति माना है, किन्तु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। इनके रूप में इतनी मानवता है कि ये देवयोनि की मूर्तियाँ नहीं हो सकतीं।

इतना अवश्य है कि इनके बनने के पाँच छः सौ वर्ष बाद जब लोग इनके वास्तविक उद्देश्य को भूल गए थे तो इन्हें यक्ष-मूर्ति मानने लगे थे। किंतु उस समय भी इनमें से कम से कम एक का नाम कायम रह गया था अर्थात् राजा नंदिवर्धन की मूर्ति यक्ष नंदिवर्धन की मूर्ति मानी जाती थी।

इसी वर्ग की और इसी युग की मुख्यतः तीन मूर्तियाँ और मिली हैं जिनमें से दो स्त्रियों की और एक पुरुष की है। इनका ब्योरा इस प्रकार है—

१—स्त्री मूर्ति—जो मथुरा में मनसा देवी के नाम से पूजी जाती है।

२—स्त्री मूर्ति—ऊँचाई ६ फुट ७ इंच, ग्वालियर राज्य के बेस-नगर में प्राप्त और अब कलकत्ता संग्रहालय में रक्षित।

३—पुरुष मूर्ति—मथुरा के बरोदा नाम ग्राम में, जो परखम के पास ही है, प्राप्त; मथुरा संग्रहालय में रक्षित। इसका केवल मस्तक से छाती तक का अंश मिला है।

ये तीनों मूर्तियाँ भी अपने वर्ग की पहली तीन मूर्तियों की तरह आदम-कद से ऊँची हैं और इनमें से शेषोक्त तो जब पूरी रही होगी तब बारह फुट से भी अधिक रही होगी। इन मूर्तियों पर नाम तो नहीं अंकित हैं, किंतु इनमें भी कोई ऐसी बात नहीं है जिससे ये यक्ष-मूर्तियाँ प्रमाणित हो सकें। ये सर्वथा मानव अतः राजा-रानियों की प्रतिमाएँ हैं।

§ १४. इन सब मूर्तियों का समय पिछले मौर्यकाल में वा शुंगकाल में खींच लाने की चेष्टा, जैसी कि कुछ विद्वानों ने की है, व्यर्थ है, क्योंकि—

क—उक्त कालों में ओपदार (पालिशवाली) मूर्तियाँ नहीं बनती थीं और इनमें की कई मूर्तियाँ ओपदार हैं।

ख—उक्त कालों में इतनी ऊँची वा **डौल**वाली मूर्ति नहीं बनती थी।

ग—चामरग्राहिणी, चँवर डुलानेवाली की एक ओपदार मूर्ति (देखिए फलक–५) पटना संग्रहालय में है। वह भी ऐसी ही ऊँची पूरी है। अंतर इतना ही है कि उसकी शैली विकसित है और उस विकास की विशेषताएँ निश्चय-पूर्वक अशोककालीन हैं। फलतः ये मूर्तियाँ अशोक के पहले ही की हो सकती हैं, बाद का तो प्रश्न ही नहीं।

§ १५. उक्त नन्दिवर्धन ने मगध साम्राज्य को, जो अजातशत्रु के समय से ही बनना प्रारंभ हो गया था, और भी बढ़ाया। उसने कलिंग को भी जीत लिया था तथा वहाँ से लूटकर और निधियों के साथ जिन (जैन तीर्थंकर) की मूर्ति भी ले आया था[१]। ई० पू० ५वीं शती में जैन मूर्तियाँ बनने का यह अकाट्य प्रमाण है। इसी समय के कुछ पीछे कृष्ण की मूर्ति के अस्तित्व

१—रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ७२४.

का अनुमान होता है। यदि हम ५० ई० पू० ग्रीक ऐतिहासिक क्विन्तस-कर्तिए की बात मानें तो पञ्जाब के केकय प्रदेश का स्वतन्त्र-चेता राजा पुरु (३२५ ई० पू०), जब अलकसान्दर का सामना करने आया, तो उसकी सेना के आगे आगे लोग हरक्यूलिस की मूर्ति लिए चल रहे थे[१]। ग्रीक लेखक कृष्ण को हरक्यूलिस कहते थे, यह मेगास्थने के विवरण से स्पष्ट है।

मौर्यकाल

[३२५—१८८ ई० पू०]

§ १६. शैशुनाक वंश के बाद मगध में नन्द वंश का साम्राज्य (३६६-३२६ ई० पू०) हुआ। पीछे से यह वंश बहुत अत्याचारी हो उठा था। चाणक्य के पथ-प्रदर्शन में चन्द्रगुप्त मौर्य्य (३२५-३०२ ई० पू०) ने इस अत्याचार से राष्ट्र का उद्धार किया और मौर्य्य राजवंश की स्थापना की। चाणक्य के अनुपम ग्रंथ, अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय शिल्पियों (दस्त-कारों) की श्रेणियाँ अर्थात् पंचायतें होती थीं। वे लोग कम्प-नियों की भाँति साझे में काम करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में इन

१—कुमारस्वामी, इन्डोन० पृ० ४२, नोट-५।

श्रेणियों की संख्या अठारह दी है, जिनमें बढ़ई, कर्मार (कर्मकार)[1], चित्रकार, चर्मकार आदि शामिल थे[2]। इन श्रेणियों के प्रायः अलग अलग गाँव होते थे और बड़े नगरों में अक्सर एक एक श्रेणी का एक एक मुहल्ला होता था। ये अच्छा प्रभाव रखती थीं और राज्य की ओर से इनकी रक्षा का विशेष प्रबंध था। मौर्य्य राज्य के पहले, अपराध करने पर शिल्पियों के हाथ काट लिए जाते थे। चन्द्रगुप्त के समय से यह दंड उठा दिया गया था। दशकुमारचरित से पता चलता है कि

१—"कर्म" एक पारिभाषिक शब्द है, जो भारतीय ही नहीं अन्य आर्य्य भाषाओं में भी इसी अर्थ में आता है, यथा ईरानी-कार, अंग्रेजी-वर्क। इसका अर्थ है शिल्प वा दस्तकारी। कर्मार शब्द का अर्थ है—सभी तरह के ऊँचे दर्जे के शिल्पी, जिनमें रूप-कार (मूर्ति बनानेवाले), दंतकार (हाथीदाँत के काम बनाने-वाले) आदि सम्मिलित हैं। यह कर्मार शब्द यजुर्वेद तक में मिलता है और दक्षिण भारत में आज भी ऊँचे कारीगरों के अर्थ में आता है। इधर कर्मार से कमार होकर कहार बन गया है। काशी-चुनार में, जो प्रस्तर-मूर्ति-कला का बहुत पुराना केन्द्र है (§ ३५ क), संगतराश कहार ही होते हैं।

२—गुजरात में थोड़े दिन पहले तक श्रेणियों की याद इस रूप में बनी हुई थी कि लोहार, सुतार (सूत्रधार = मिस्त्री) आदि नौ या ऐसी ही कारीगर जातियों की रोटी एक थी।

उसके समय (ई० ७वीं-८वीं शती) तक मौर्य्यों का यह घर क़ायम था।

§ १७. चंद्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत मेगास्थने रहता था। उसने अपने प्रवास का वर्णन लिखा था, जिसके अब छिन्न-भिन्न अंश प्राप्त हैं। उनसे पता चलता है कि चंद्रगुप्त का विशाल प्रासाद एशिया के सूसा आदि के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था। इस प्रासाद के भग्नावशेष समुचित खुदाई के अभाव में अभी तक नहीं मिले हैं। स्मिथ[1] का यह अनुमान कि यह लकड़ी का तथा अन्य नाशवान् उपकरणों का बना था, अतः निःशेष हो गया, शंकनीय है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो जिस प्रकार मेगास्थने ने पाटलिपुत्र के परकोटे के विषय में लिखा है कि वह लकड़ी का था, उसी प्रकार इसके विषय में भी लिखता। यहाँ इस राजप्रासाद की चर्चा इसलिये कर दी गई कि अपने यहाँ मूर्त्तिकला का वास्तु (इमारत) से विशेष संबंध रहा है, क्योंकि सभी अच्छे भवनों पर मूर्त्तियाँ और नक्काशी अवश्य रहती थीं; दूसरी ओर मूर्तियों की स्थापना के लिये बड़े बड़े और उच्चकोटि के भवनों का निर्माण किया जाता था। अतएव मूर्त्ति और वास्तु अन्योन्याश्रयी कलाएँ हैं।

१—स्मिथ, पृ० १५.

§ १८. चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक (२७७-२३६ ई० पू०) एक बहुत बड़ा सम्राट् ही नहीं, संसार के महापुरुषों में से भी था। राज्यारोहण के बाद बारहवें वर्ष उसने अपने प्रबल पड़ोसी कलिंग की विजय की। उस युद्ध में करीब डेढ़ लाख कलिंगवाले कैद किए गए, एक लाख खेत रहे और उससे भी अधिक पीछे से मरे; किन्तु इस परिणाम का उसके मन में भारी अनुशोचन हुआ। उसने अनुभव किया कि जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देशनिकाला हो वहाँ जीतना न जीतने के बराबर है। उसके जीवन में इससे बड़ा परिवर्तन हुआ और वह भगवान् बुद्ध के दिखाए हुए मार्ग का पथिक हो गया। इसके उपरांत उसने पर्वतों, शिला-फलकों और बड़े बड़े लाठों पर अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति के प्रज्ञापन खुदवाए जिन्हें वह धर्मलिपि कहता है। इन धर्मलिपियों के प्रत्येक शब्द से उसकी महत्ता टपकती है। उसने यही निश्चय नहीं किया कि वह अब रक्तपातवाले नए विजय न करेगा, बल्कि अपने पुत्र-पौत्रों के लिये भी यह शिक्षा दर्ज की कि वे ऐसे नए विजय न करें और धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को वास्तविक विजय मानें। वह सब जीवों की अक्षति तथा समचर्य्या और प्रसन्नता चाहने लगा। लोक-हित को उसने अपने जीवन का ध्येय बना लिया।

स्वयं बौद्ध होते हुए भी अशोक सब पंथों को सम-दृष्टि से देखता था और प्रयत्नशील रहता था कि विभिन्न पंथवाले परस्पर

प्रेम, आदर और सहिष्णुता से रहें तथा प्रत्येक पंथ के तत्त्व की वृद्धि हो। सर्वोपरि उसने धर्मविजय प्रारंभ की, जिसके लिये अपने सीमांत के आरक्षित तथा मित्र राष्ट्रों में, सिंहल से लेकर हिमालय तक तथा पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रिका एवं यूनान तक प्रचारक भेजे। फलतः इन सभी क्षेत्रों में उसके धर्मानुशासन का अनुसरण होने लगा, जिसका प्रभाव उसके सैकड़ों वर्ष बाद तक बना रहा।

वह जिस धर्म की वृद्धि करता था वह सम्प्रदाय-विशेष न था; शुद्ध और उच्च आचरण अर्थात्, विश्व-धर्म था।

§ १६. ऐसे लोकोत्तरचेता की मूर्ति एवं वास्तु की कृतियाँ भी लोकोत्तर होनी चाहिएँ। बात भी ऐसी ही है। ऊपर हम कह चुके हैं कि अशोक के उक्त संदेश पत्थरों पर उत्कीर्ण हैं। इनमें से सिलाथंभों (स्तम्भों) की कला भी उतने ही महत्त्व की है जितने उनपर के लेख हैं। ये स्तम्भ अशोककालीन मूर्ति-कला के सार हैं। इतना ही नहीं, संसार भर की उत्कृष्टतम मूर्त्तियों में इनका स्थान है। यों तो उड़ीसा में भुवनेश्वर से सात मील दक्खिन धौली नामक गाँव की अश्वत्थामा पहाड़ी की चट्टान पर इस सम्राट् की जो धर्मलिपि खुदी है उसके ऊपर हाथी के सामने की जो मूर्त्ति कोरकर बनाई गई है, वह भी एक बढ़िया चीज है; किंतु अशोक-स्तंभों के आगे वह कुछ भी

नहीं । अतएव अब हम उन स्तंभों के वर्णन में प्रवृत्त होते हैं—

§ २०. इस समय इस प्रकार के तेरह स्तंभ निम्न-लिखित स्थानों में प्राप्त हैं—

(१) दिल्ली में—दिल्ली दरवाजे के बाहर फीरोजशाह के कोटले पर जिसे फीरोजशाह अम्बाले के तोपरा गाँव से महत् आयोजन से उठवा लाया था ।

(२) दिल्ली के उत्तर-पश्चिम ढाँग पर, इसे भी फीरोज मेरठ से उठवा लाया था ।

(३) कौशाम्बी में—जैन-मंदिर के निकट, जिसे वहाँ के लोग लाठ-लौर[1] कहते हैं ।

(४) इलाहाबाद के किले में ।

(५) सारनाथ-बौद्ध भग्नावशेषों में ।

(६) मुजफ्फरपुर के बखीरा ग्राम में ।

(७-८) चम्पारन के लौरिया-नन्दगढ़ और रढ़िया गाँवों में ।

(९-१०) उसी जिले के रमपुरवा गाँव में ।

१—अवधी और उसके पूरब की हिंदी बोलियों में लट्ठ को लौर कहते हैं ।

(११-१२) नेपाल राज्य में, तराई के रुम्मिनदेई (लुम्बिनी, जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था) तथा निगलीवा गाँवों में है।

(१३) साँची (भूपाल राज्य, मध्य भारत), जहाँ प्रसिद्ध स्तूप है।

इन तेरह के सिवा इनके साथ के चार और स्तंभों का पता है—

(१) संकीसा (=प्राचीन संकाश्या, जिला फर्रुखाबाद) में एक स्तंभ के ऊपर का **परगहा** जिसपर हाथी की कोरी हुई मूर्त्ति है। (२) काशी में ऐसे एक स्तंभ का ठूँट है जिसे लाढ भैरो कहते हैं। यह १८०५ ई० तक समूचा था। उस समय के दंगे में इसे मुसलमानों ने नष्ट कर दिया। (३) पटने की पुरानी बस्ती में, एक अहाते में एक स्तम्भ पड़ा है। (४) बुद्ध गया के बोधि-वृक्ष के आयतन (मंदिर) की जो प्रतिकृतियाँ भरहुत की वेदिका (कटघरे) पर अंकित हैं उनमें एक अशोकीय स्तंभ भी दिखाया गया है। यों कुल सत्रह स्तंभ हुए; किंतु मूलतः ऐसे स्तंभों की संख्या तीस से कम नहीं जान पड़ती।

§ २१. ये सब स्तंभ चुनार के पत्थर के हैं और केवल दो भाग में बने हैं। समूचा लाढ एक पत्थर का है; उसी भाँति उस पर का समूचा परगहा भी एक पत्थर का है। इन दोनों भागों पर ऐसा ओप किया हुआ है कि आँख फिसलती है; इतना ही नहीं, उसमें इतना टटकापन है मानो कारीगर अभी पाड़ पर

से हटा हो। यह ओप की प्रक्रिया अशोक के पौत्र संप्रति (२२०-२११ ई० पू०) के बाद से भारतीय प्रस्तर-कला से सदा के लिये बिदा हो जाती है। कुछ लोगों के मत से यह वज्रलेप नामक एक मसाले का प्रभाव है जो सिर्फ ओप ही नहीं पैदा करता बल्कि पत्थर की रक्षा भी करता है और कुछ के मत से, पत्थर की घुटाई से यह बात पैदा हुई है। शेषोक्त विधान की ही अधिक संभावना जान पड़ती है; क्योंकि वज्रलेप के जो नुसखे ग्रंथों में मिलते हैं उनसे वह, ओपने का नहीं, जोड़ने का मसाला (एक प्रकार का सरेस) जान पड़ता है जिसमें इतनी पायदारी असंभव है। यह ओप अपने देश की प्रस्तर-कला की एक ऐसी विशेषता है जो संसार भर में अपना जोड़ नहीं रखती।

§ २२. इन स्तंभों के लाठ गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। इनकी ऊँचाई तीस-तीस, चालीस-चालीस फुट है और वजन में हजार-हजार बारह-बारह सौ मन के बैठते हैं। लौरिया-नंदगढ़ के लाठ का चढ़ाव-उतार सबसे सुंदर है। नीचे उसका व्यास साढ़े पैंतीस इंच है और ऊपर साढ़े बाईस, अर्थात् निचले छोर से ऊपर का छोर ड्योढ़े (३३$\frac{3}{8}$") से कुछ अधिक है। ये लाठ खान से अपने ठिकाने तक कैसे पहुँचाए गए, गढ़े-चमकाए गए, खड़े किए गए और इनपर इनके परगहे ठीक ठीक जुहाए गए—ये सब ऐसे करतब हैं जिनपर विचार करने

में अकिल चकरा उठती है। और इनके कारीगरों और इंजी-नियरों के आगे सिर झुकाना पड़ता है; वे किसी देश-काल के गुणियों से किसी भी बात में कम न थे।

§ २३. इन लाठों पर के परगहे, जो लाठों की ही भाँति एक पत्थर के हैं, अशोक और उसके पूर्व की (देखिए §३५. ख) उभार कर एवं कोर कर बनाई गई मूर्त्ति-कला के बड़े सुंदर नमूने हैं। प्रत्येक परगहे के पाँच अंश होते हैं—(१) एकहरी वा दोहरी पतली मेखला जो लाठ के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर लौटी हुई कमल-पँखड़ियों की आलंकारिक आकृतिवाली बैठकी, जिसे अनेक विद्वान् घंटाकृति मानते हैं, (३) उसपर कंठा, (४) सबके ऊपर गोल वा चौखूँटी चौकी और (५) उसके भी सिरे पर एक वा एकाधिक पशु आसीन होते हैं (देखिए आकृति–५)।

§ २४. मेखला पर प्रायः मनकों और डोरी का उभरा हुआ अलंकरण वा दोहरी कतरी होती है। इसी भाँति कंठे पर प्रायः मोटी डोरी या सादा गोला होता है। किंतु कारीगरी की असली छटा तो चौकी और उसके सिरे के जानवरों में होती है। लौरिया-नंदगढ़ की चौकी पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हैं और इला-हाबाद, संकीसा तथा रामपुरवा के बैलवाले स्तंभ पर पंजक, कमल, मुकुंद आदि बने हैं। जो भी अलंकरण चुने गए हैं वे ऐसी सफाई

से, सच्चे नाप से, कैंड़े[1] से और सजीवता से बने हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तर-कला इनसे आगे नहीं बढ़ी है। ये विशेषताएँ इतनी प्रत्यक्ष हैं कि स्वर्गीय विंसेंट स्मिथ और सर जान मार्शल जैसे यूनानवादियों तक को माननी पड़ी हैं[2]।

परगहे के सिरे पर वाले जानवर जो कोरकर बनाए गए हैं, इन चारों में से कोई होते हैं—सिंह, हाथी, बैल वा घोड़ा[3]। इनमें से पहले तीन तो परगहों के सिरों पर विद्यमान हैं, चौथा घोड़ा रुम्मनदेई के परगहे के सिरे पर था जो अब नहीं रह गया। सारनाथ के परगहे की चौकी पर यही चारों जीव चार पहियों के बीच

१—कैँडा = समविभक्तता। हरएक वस्तु को ठीक प्रमाण में अंकित करना, न तो वह आवश्यकता से कम हो न अधिक। जैसे चेहरे के अनुसार आँख, नाक, कान और मुँह का होना, यह नहीं कि चेहरे के अनुपात में वे छोटे वा बड़े हों; इसी प्रकार सर्वत्र।

२—स्मिथ, पृष्ठ १८, तथा उसी का फुटनोट संख्या—१.

३—ये चारों पशु भारतीय मूर्तिकारी में बहुत दिनों से चले आते हैं। पहले पहल हड़पा के एक टिकरे में कुछ अंतर के साथ मिलते हैं। उसमें एक व्यक्ति मंच पर पलथी लगाकर बैठा है, उसके इधर-उधर हाथी, बैल, बाघ और गैंडा खड़ा है। यहाँ बाघ के बदले सिंह है और गैंडे के बदले में घोड़ा है। बौद्ध-साहित्य में अनवतप्त सरोवर की चार दिशाओं के घाटों पर इन्हीं

में उभार कर बने हुए हैं जिनमें बड़ी सफाई और कैंड़ेदारी है।

§ २५. इन परगहों में उक्त सारनाथ वाला सर्वश्रेष्ठ है (फलक-४)। इतना ही नहीं, अशोकीय मूर्तियों में यदि इसकी कुछ बराबरी कर सकती है तो पटने की चामरग्राहिणी की मूर्ति (फलक-५)। सारनाथ-स्तंभ अशोक-शासन-काल के पिछले दिनों में ई० पू० २४२ से २३२ के बीच, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन का स्थान, अर्थात् बुद्ध के पहले उपदेश का स्थान, जताने के लिये खड़ा किया गया था। चौकी पर के चार पहिए धर्मचक्र के लक्ष्म हैं। इसी प्रकार सिरे के चार सिंहों पर भी एक धर्मचक्र था जिसके टुकड़े मिले हैं। इसका व्यास दो फुट नौ इंच था।

चार पशुओं को गिनाया है। यह परंपरा १६वीं-१७वीं शती तक चालू थी। केशव ने अपनी रामचंद्रिका में रामचंद्र के महल का वर्णन करते हुए उसकी चार दिशाओं के फाटकों पर इन्हीं चारों जानवरों की मूर्तियों का निवेश बताया है—

'रची विचारि चारि पौरि पूरबादि लेखियो ॥
सुवेश एक सिंह पौरि एक दन्तिराज है।
सुएक बाजिराज एक नंदि वेष साज है' ॥

—केशव-पंचरत्न, इलाहाबाद, १९८६ वि०, पृ० ११६.

संभवतः ये दिशाओं के प्रतीक हैं।

अब सिरे पर के सिंहों को देखिए। चार सजीव केसरी पीठ से पीठ मिलाए चारों दिशाओं की ओर मुँह किए दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का बड़ा स्वादु सम्मिश्रण है। कलाकार ने जान-बूझकर पंचानन की उग्रता, हिंस्रता और प्रचंडता नहीं दिखाई और इन्हें छोड़कर भी उनका मृगेंद्रत्व कहीं से कम नहीं होने दिया। उनके गठीले अंग-प्रत्यंग सम-विभक्त हैं और बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनमें कहीं से लरबरपन, बोदापन वा भद्दापन नहीं है। न एक छेनी कम लगी है न अधिक। ओप के कारण उनपर एक अद्भुत तेज जान पड़ता है। उनके फहराते हुए लहरदार केसर का एक एक बाल बड़ी बारीकी और चारुता से दिखाया गया है जो उनके सौंदर्य को दूना कर देता है। चारों मूर्तियों में नपी हुई समानता है। इनमें ताजगी भी इतनी है कि आज की बनी जान पड़ती है। इन्हीं विशेषताओं से विंसेंट स्मिथ जैसे भारतीय कला के अनुदार आलोचक को मानना पड़ा है कि संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु मूर्तियों में इस सुंदर कृति से बढ़कर कौन कहे इसके टक्कर की भी चीज पाना कठिन है। पहले इन सिंहों की आँखों में मणियाँ बैठाई थीं, उनके कारण इनका तेज और भी बढ़ा हुआ रहा होगा। भारत के प्रत्येक पूत का यह कर्तव्य है कि इस परगहे को निरखकर अपनी

मूर्तिकला की उत्कृष्टता का साक्षात् करे[१]। साँची के परगहे पर भी इसी तरह के चौमुखे सिंह बने हैं। यद्यपि इनके आगे वे बोदे और भद्दे हैं, फिर भी परगहों में इसके बाद उसी का नम्बर है।

§ २६. पेशावर तथा हजारा जिलों के चट्टानों पर के लेखों को छोड़कर, जो खरोष्ठी लिपि में हैं, स्तंभों पर के तथा अशोक के अन्य सभी लेख ब्राह्मी लिपि में हैं, जिसकी सबसे श्रेष्ठ संतति देवनागरी लिपि है और भाषा तो सभी की मागधी अर्थात् उस समय की हिंदी है। इससे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि उस समय जनता में पढ़ने-लिखने का व्यापक प्रचार था, क्योंकि तभी इन धर्मलेखों की उपयोगिता थी। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष है कि हिंदी का राष्ट्रभाषा का तथा नागरी का राष्ट्रलिपि का स्वत्व आज से नहीं उसी समय से चला आता है। अस्तु, कला की दृष्टि से इन लेखों के अक्षर बड़े उत्तम हैं और इनकी खुदाई भी वैसी ही हुई है। अक्षरों की आकृति और मरोड़ सुंदर और एकसाँ हैं। उनमें गोलाई और तनाव है तथा वे छरहरे हैं; नाटे, चिपटे वा फैले

१—खेद है कि सारनाथ-संग्रहालय में इस परगहे के चारों ओर कटघरा न होने के कारण दर्शक इसपर हाथ घिसते हैं जिससे इसकी ओप बिगड़ती जा रही है।

हुए नहीं है। उनकी पंक्तियाँ सीधी हैं। रुम्मनदेई का स्तंभलेख इन सब विशेषताओं का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उसमें आज भी वही टटकापन बना हुआ है जो अक्षरों के खोदे जाने के दिन था।

§ २७. पटने के पास दीदारगंज में मिली और अब पटना संग्रहालय में प्रदर्शित चामरग्राहिणी की ओपदार मूर्ति (फलक—५) भी अशोककालीन मूर्तिकला का अपने ढंग का अद्वितीय नमूना अतः दर्शनीय है। उसका सुढार मुखमंडल, अंग-प्रत्यंग में भराव और गोलाई, हर जगह से सच्चा कँडा, प्रत्येक ब्योरे का सुच्चापन तथा कारीगर की हथौटी की प्रौढ़ता उसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। मूर्ति कोरकर बनाई गई है। उन दिनों राजप्रासादों में सज्जा के लिये ऐसी मूर्तियाँ रखी जाती थीं, अतः यह मूर्ति अशोक के प्रासादों की जान पड़ती है।

§ २८. ऊपर मूर्तिकला और वास्तु के विशेष संबंध के बारे में कहा जा चुका है (§ १७)। अतएव यहाँ अशोकीय वास्तु की चर्चा भी उचित है। अशोक बहुत बड़ा वास्तु-निर्माता था। यहाँ तक कि बौद्ध अनुश्रुति में उसे चौरासी हजार स्तूपों का बनवानेवाला लिखा है। पाटलिपुत्र में उसने चंद्रगुप्त के महलों के रहते हुए भी अपने महल बनवाए थे जो सात-आठ सौ वर्षों तक ज्यों के त्यों खड़े थे। पाँचवीं शती का प्रसिद्ध चीनी यात्री फहियेन लिखता

है कि वे मनुष्य के नहीं देवयोनि के बनाए हुए हैं। खोदाई करके उसके कुछ भग्नावशेष निकाले गए हैं। उसमें भी सभा-भवन के भारी और ओपदार खंभे हैं। सभाभवन की नींव में शह-तीरों का चौसल्ला दिया हुआ था, वह भी निकला है। किंतु खुदाई बिलकुल अधूरी हुई है, इस कारण कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं हुई। उक्त यात्री के अनुसार इन प्रासादों में नक्काशी और मूर्तिकारी भी थी। कुछ विद्वानों की राय में अशोक ने अपने सभाभवन का नमूना ईरान की राजधानी पर्सीपोलिस के सभामडप से लिया था। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे (§ ३५ ङ)।

§ २६. इस सभाभवन के आधार पर अशोककालीन निवास-वास्तु (बसने की इमारतों) का अर्थात्, राजप्रासाद, नागरिकों के घर और विहारों (मठों) का भी अनुमान किया जा सकता है। उस समय से इधर प्रायः एक शती के भीतर बनी साँची और भरहुत की मूर्तियों पर भी देवसभा (फलक—८), राज-गृह और नागरिकों के घर बने हैं। इनसे भी सहायता ली जा सकती है क्योंकि इतने थोड़े समय में शैली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता। इन सब के अध्ययन से हम कह सकते हैं कि उस समय रहने की इमारतों में ईंट, पत्थर और लकड़ी तीनों का उपयोग होता था। उनकी कुरसी ईंट की, खंभे पत्थर के, सायबान लकड़ी के और पाटन

तथा ऊपर के मंडप लकड़ी के होते थे। यह नहीं कि समूची इमारत लकड़ी की हो। यह हो सकता है कि यातायात की कठिनाई के कारण साधारण वित्त के लोगों को पत्थर दुष्प्राप्य रहा हो, अतः उनकी इमारतें ईंट और लकड़ी की ही बनती रही हों। अभी-अभी तक पटना, लखनऊ आदि नगरों में, जो पत्थर की खदानों से दूर हैं, यही बात पाई जाती थी।

ऐसी इमारतों को चैत्य कहते थे। यह समझना भूल है कि चिताभूमि पर बनाए गए वास्तु का नाम चैत्य है। हमें ऐसे प्रयोग मिलते हैं—"चैत्यप्रासादमुत्तमम्"। चैत्य उस निवास-वास्तु को कहते थे जो चिनाई (सं० √ चि = चुनाई) करके बनाए जाते थे। इससे भी उनका ईंट का बना होना साबित होता है। उस समय के मकान सात सात खंड तक के होते थे। उस काल के बौद्ध ग्रंथों में सप्त-भौम घरों की चर्चा मिलती है।

§ ३०. अशोक के बनवाए अवशिष्ट बौद्ध स्तूपों में साँची का स्तूप मुख्य है। इसके तले का व्यास एक सौ बीस फुट और ऊँचाई चौव्वन फुट है। इसके चारों ओर दो प्रदक्षिणाएँ बनी हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। आजकल के काफिरिस्तान का पुराना नाम कपिश है। उसकी राजधानी कापिशी में अशोक का बनवाया सौ फुट ऊँचा एक स्तूप छठी शती तक खड़ा था। इसी प्रकार

काबुल-पेशावर के बीच निग्रहार (प्राचीन नगरहार) में अशोक का बनवाया तीन सौ फुट ऊँचा एक स्तूप था। कश्मीर की राजधानी श्रीनगरी और नेपाल की पुरानी राजधानी मंजुपट्टन भी अशोक ने निवेशित की थी।

§ ३१. गया जिले की बराबर पहाड़ियों में उसने कई गुफाएँ आजीवक साधुओं के लिये कटवाईं और उन्हें उत्सर्ग करने के लेख भी खुदवाए। ये आजीवक बौद्ध वा ब्राह्मण संप्रदायों से पृथक् थे अत: इनके लिये गुफा बनवाकर अशोक ने अपनी धार्मिक समदृष्टि का परिचय दिया। ये गुफाएँ बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर की हैं जिनका काटना असंभव-सा है। परंतु ये काटी ही नहीं गई हैं वरन् इनकी भीतों पर काँच सरीखी ओप भी की गई है। ओप की यह लुप्त कला यहाँ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है। इन कृतियों के सिवा उसकी बनवाईं या उसके समय की बनी अन्य उपलब्ध कृतियों में मुख्य सारनाथ में एक पत्थर का बना कटघरा (वेदिका), वास्तविक शैली के कई ओपदार मस्तक तथा कबूतर के कई टुकड़े आदि हैं। बुद्धगया की बहुत सी कृतियों में से बचा हुआ एक भद्रासन है। ये सब दर्शनीय हैं।

§ ३२. अशोक-काल की समस्त मूर्तिकला में कहीं से बेकैंडगी, भद्दापन वा मोटापन नहीं पाया जाता। हरएक काम में बारीकी और समानता है। उस समय की, कड़े पत्थरों की तथा

मुलायम गोरा पत्थर की छोटी छोटी गोल चकियाँ मिलती हैं, जिनमें किसी में बीच में छेद हो गया है, किसी में नहीं। उन पर बड़ी अच्छी उभरी नक्काशी और स्त्रियों की मूर्तियाँ रहती हैं। ऐसी एक चकिया पर बड़ी अच्छी मोरनी बनी है। ये संभवतः कान में पहनी जाती थीं।

§ ३३. अशोक के दो पौत्र थे; दशरथ (२२८–२२० ई० पू०) और सम्प्रति (२२०–२११ ई० पू०)। इनमें से दशरथ की कटवाई हुई एक गुफा भी उक्त बराबर पर्वत में है। इसे लोमस रिसी की गुफा कहते हैं। इसके द्वार के महराब में हाथियों की एक सुंदर अवली बनी है और भीतर की भीतों पर ओप है। सम्प्रति जैन हो गया था और उसने जैन संप्रदाय के प्रसार के लिये बहुत-कुछ किया। हाल ही में पटने में जैन तीर्थंकरों की कई खड़ी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनपर ओप है। ये संभवतः सम्प्रति-काल की हैं; क्योंकि मौर्य्यकाल के साथ ही पत्थर को ओपने की कला सदा के लिये लुप्त हो जाती है। सम्प्रति के उत्तराधिकारी शालिशुक (२११—२१० ई० पू०) को प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ गर्गसंहिता के युग-पुराण में राष्ट्रमर्दी (देश का पीड़क) तथा धर्मवादी अधार्मिक (धर्म का दम भरनेवाला अधर्मी) कहा है। इस उक्ति को जब हम महाभाष्य की इस उक्ति के संग विचारते हैं कि धन-लोलुप मौर्य्यों ने पुजवाने के लिये

अनेक स्थान बनवाए थे, तो यह जान पड़ता है कि पिछले मौर्य्य-काल में अनेक मूर्त्तियाँ और मंदिर बने; किंतु अभी तक इनके अवशेष नहीं मिले हैं।

§ ३४. मथुरा, अहिच्छत्रा (रामनगर, जिला बरेली), कौशांबी, मसोन (जिला गाजीपुर), पटना आदि में असंख्य मृण्मूर्त्तियाँ भी मिल रही हैं। इनमें कितनी ही, कला की दृष्टि से, बड़ी उत्कृष्ट हैं। किंतु इनमें से जो शुंग-युग से पूर्व की हैं[१] उनका काल-विभाजन अभी तक, अध्ययन की कमी के कारण, ठीक ठीक नहीं हो पाया है। वे ई० पू० ७वीं शती से लेकर मौर्य्य-काल तक की हो सकती हैं। अतएव उनके विषय में अधिक न कहकर केवल एक का चित्र (फलक–११ क) देकर ही हम संतोष करेंगे। इसमें शिव वा कोई यक्ष अपनी अर्धांगिनी के सहित बड़ी बारीकी और सुंदरता से अंकित किया गया है। इसके संबंध में एक विशेष बात यह भी है कि ठीक इस तरह की, सोने के पत्तर की, ठप्पे से बनाई गई एक मूर्त्ति पटने में मिली है, जो वहाँ के राय बहादुर सेठ राधाकृष्ण जालान के अद्वितीय संग्रह में है। उक्त दोनों मूर्त्तियाँ नंद-काल से मौर्य्य-काल तक की हो सकती हैं।

१—शुंग-युग की मृण्मूर्त्तियाँ अपने चिपटे डौल के कारण तुरंत पहचान ली जाती हैं। देखिए आगे § ५५.

§ ३५. यहाँ मौर्य्य काल तक की मूर्त्ति-वास्तु-कला का संक्षिप्त विवरण पूरा हो जाता है। इसी काल से इन कलाओं के सिलसिलेवार उदाहरण प्राप्त होने लगते हैं, जो बराबर अर्वाचीन काल तक चले आते हैं। अब आगे बढ़ने के पहले यह आवश्यक है कि मौर्य्य काल तक की इन कलाओं के विषय में कुछ विशेष बातें कह दी जायँ—

क—पहली बात तो यह है कि शैशुनाक मूर्त्तियों से लेकर अशोकीय स्तंभों और चामरग्राहिणी तक तथा सम्प्रति-कालीन जैन मूर्त्तियाँ चुनार के पत्थर की बनी हुई हैं। इससे जान पड़ता है कि उन दिनों भी 'मध्यदेश'[1] में पत्थर की खदानें चुनार प्रांत में ही थीं; अतएव यदि चुनार से ही प्रस्तर-कला का उत्कर्ष हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि मध्यदेश ही वैदिक काल से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है।

ख—दूसरी बात यह है कि ऊपर वर्णित स्तंभों में से, जो सुविधा के लिये अशोकीय स्तंभ कहे जाते हैं, कतिपय संभवतः अशोक के पहले के हैं। ऐसा इसलिये कि अशोक ने अपने सहसरांव के अभिलेख में स्पष्ट रूप से कहा है कि शिलालेख वहाँ भी खोदे जायँ जहाँ स्तंभ

१—मोटे तौर पर अंबाले से मगध तक का हिमालय-विन्ध्य के बीच का प्रदेश।

विद्यमान हैं। बखीरा (जिला मुजफ्फरपुर) के स्तंभ पर का सिंह सारनाथ के सिंह से इतना भिन्न और शैली में इतना आरंभिक है कि वह निश्चयपूर्वक अशोक से काफी पहले का होना चाहिए। इस स्तंभ की गढ़त भी उतनी सुघर नहीं है और न इसपर लेख ही है; ये दोनों बातें भी उसका अशोक से पूर्ववर्त्ती होना सूचित करती हैं। रामपुरवा में एक ही गाँव में दो स्तंभ हैं, जिनमें से केवल एक पर लेख है। इसी प्रकार काशी और कौशांबी में भी दो दो स्तंभ थे, जिनमें से कौशांबी का एक अनुत्कीर्ण है (§ २० [३])। एक ठिकाने एक से अधिक स्तंभ भी यही बताते हैं कि उनमें से एक पहले का और एक अशोक का है। इन सब स्तंभों में लुंबिनी, निगलीवा, सारनाथ, बुद्धगया और साँची के स्तंभों के बारे में हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वे अशोकीय हैं, क्योंकि इनमें से प्रथमोक्त चार बौद्ध तीर्थों में हैं और शेषोक्त साँचीवाला अशोक ने युवराजावस्था में वहाँ का शासक होने के कारण (वहाँ के बृहद् स्तूप की भाँति) बनवाया था। अन्य स्तंभ अपने स्थानों के कारण प्राचीन राजमार्गों से संबंधित जान पड़ते हैं।

ग—अशोकीय स्तंभों पर के परगहों की बैठकी के विषय में, पाटलिपुत्र में निकले हुए अशोक के सभाभवन की छेंकन के विषय में तथा पिछले मौर्य्यकाल से लेकर कुषाण-काल तक की वास्तु और मूर्त्तियों पर आनेवाले कुछ **अभिप्रायों** के विषय में कतिपय विद्वानों का मत है कि

वे ईरान की कला से आए हैं। उक्त परगहे और **छेंकन** के सिवा, जिनकी चर्चा आगे की जायगी, ये **अभिप्राय** संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) पंखदार सिंह, (२) पंखदार वृषभ, (३) नर-मकर, जिनमें से कुछ में घोड़े-जैसे पैर भी होते हैं और कुछ की पूँछें दोहरी होती हैं; आकृति–४, (४) नर-अश्व, (५) मेष-मकर, (६) गज-मकर, (७) वृष-मकर, (८) सिंह-नारी, (९) गरुड़-सिंह तथा (१०) मनुष्य के धड़वाले पक्षी। किंतु इस प्रकार के **अभिप्राय** ईरानी कला में लघु एशिया के देशों से आए थे और वहाँ से भारतवर्ष का बहुत पुराना संबंध था। इसके जो प्रमाण मोहनजोदड़ो में मिलते हैं उनके सिवा जातकों में वहाँ से व्यापारिक संबंध का वर्णन है। साथ ही वहाँ ई० पू० १५वीं शती से भी पहिले भारतीय आर्यों के कई उपनिवेश बन चुके थे, जिनमें से खत्ती, मित्तानी और केसाई मुख्य थे। इन जातियों के राजाओं के नाम भारतीय आर्यभाषा के हैं जैसे—दसरत्त; इनके लेखों में संस्कृत-शब्द और भारतीय देवताओं के नाम आते हैं। केसाई की तो

आकृति–४
(सारनाथ के शुंगकालीन बाड़ से)

चर्चा अपने यहाँ भी, केशी नाम से, वेदों में मिलती है जिनके घोड़े प्रसिद्ध थे। जब लघु एशिया से भारत का इतना प्राचीन और घनिष्ठ संबंध था तो सीधी बात यही हो सकती है कि वहीं से उक्त **अभिप्राय** भारतवर्ष में आए। केसाई-युगीन बाबुल के एक फलक की प्रतिकृति इस पुस्तक में दी जाती है, (फलक—६) जिसमें इस प्रकार के **अभिप्राय** स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। अपने यहाँ की अनुश्रुति भी यही है कि मूर्त्ति और वास्तु कलाओं का मुख्य प्राचीन आचार्य मय असुर था, साथ ही वह गणित-ज्योतिष का भी आचार्य था। इन दोनों बातों का संयोग ऐसा है जो लघु एशिया के सिवा और कहीं नहीं घटित होता। असुर लघु एशिया अस्सूर (असीरिया) से संबंधित है, इसकी ओर अनेक विद्वानों का ध्यान जा चुका है। इन बातों को देखते हुए उक्त **अभिप्रायों** का आयात ईरान से नहीं माना जा सकता। जिस लघु एशिया से वे ईरान में आए, उसी से भारत में भी।

घ—अब स्तंभों पर के परगहों को लीजिए। इनकी उत्पत्ति भी ईरान से बताई जाती है; किंतु भरहुत, साँची, मथुरा, सारनाथ, अमरावती, बुद्धगया आदि की कुछ मूर्त्तियों और आलंकारिक बाड़ों आदि पर एक ऐसा कमल मिलता है जो सर्वथा इस **अभिप्राय** का मूल जान पड़ता है। इस कमल की पंखड़ियाँ नीचे की ओर लौटी हुई होती हैं और इस पर कभी कभी हंस, हाथी वा देवी किंवा यक्षिणी भी स्थित रहती है। यद्यपि उक्त स्थानों के ऐसे

प्रस्तर-शिल्प शुंगकालीन वा उसके कुछ पहले-पीछे के हैं, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस कमल की कल्पना भी उसी समय की हो। अन्य **अभिप्रायों** की भाँति इसकी परंपरा भी बहुत पुरानी है। जब हम अशोकीय परगहे से इसकी तुलना करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस लौटे हुए कमल की आकृति में आरंभिकता है, जिसके विपरीत अशोकीय परगहे में इसका रूप विकसित, आलंकारिक एवं लाक्षणिक हो गया है (देखिए, आकृति-५)। घट में से निकला सनाल कमल खंभे का एक ऐसा **अभिप्राय है** जो भारतीय वास्तु में चिरकाल से बराबर चला आता है। ऐसी अवस्था में उस परंपरा का विच्छेद मानते हुए अशोकीय परगहे का उद्गम अन्यत्र खोजना दुराग्रह-मात्र है।

ङ—अशोक के सभा-भवन की **छेंकन** के संबंध में केवल इतना ही कहना है कि परसीपोलिस का सभा-मंडप उसके सैकड़ों वर्ष पहले नष्ट हो चुका था। फिर अशोक को क्या पड़ी थी कि अपने वास्तुकों को उसके खँडहरों से नमूना लेने को कहता; विशेषत: ऐसी अवस्था में जब कि उसके दादा के बनवाए हुए भवन एशिया की अन्य प्रसिद्धतम राजकीय इमारतों से बढ़कर थे। उसके नया सभा-मंडप बनवाने का उद्देश्य इतना ही जान पड़ता है कि वह चंद्रगुप्त के वास्तुवैभव से भी एक पग आगे बढ़ जाय। यह वही मनोवृत्ति है जिसे, अकबरी भवनों के रहते हुए, शाहजहाँ ने दोहराया था।
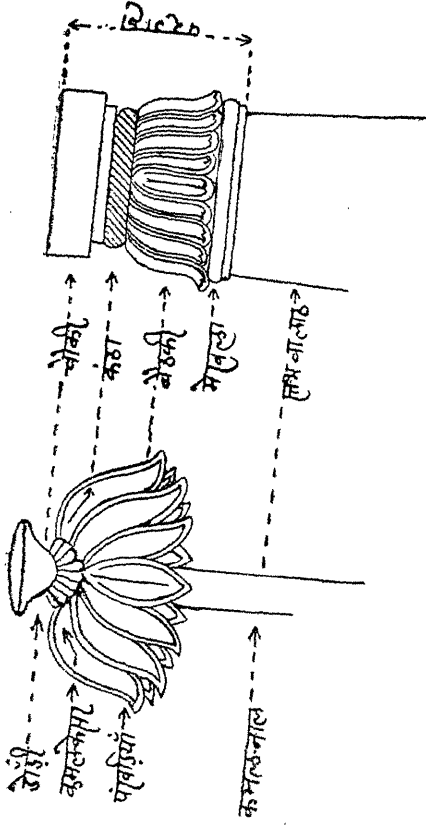
आकृति–५
अशोकीय परगहे की व्युत्पत्ति और उसके प्रत्यंग ।

§ ३६—एक प्रश्न यह भी है कि ब्राह्मण संप्रदाय के मंदिरों का विकास अशोकीय बौद्ध वास्तु से हुआ वा स्वतंत्र रूप से। अशोकीय बौद्ध वास्तु के अंतर्गत केवल स्तूप और गुफाएँ आती हैं। उस समय तक बौद्ध संप्रदाय में मूर्त्ति-पूजा चली ही न थी। इनमें से स्तूप तो शव को (उसे बिना जलाए वा जलाकर) तोप कर जो तूदा बनाने की रीति वैदिक काल से चली आती थी उसी का किंचित् विकास-मात्र है। इसका आरंभिक रूप यह जान पड़ता है कि उलटे कटोरे के आकार का तूदा जिसके ऊपर बीचोबीच एक वृक्ष और तूदे के चारों ओर उसकी तथा वृक्ष की रक्षा के लिये एक कटघरा। ऋग्वेद में इससे मिलते-जुलते आकार का कुछ इंगित हैं। सूत्रों में अर्हतों के स्तूपों की चर्चा है, जो संभवतः जैन अर्हतों के, बौद्ध धर्म के पहले से हुआ करते थे। बौद्ध स्तूपों में इनसे कोई अंतर नहीं होता था।

§ ३७. अशोककालीन और उसके कुछ बाद के स्तूपों में उक्त मूल आकृति से इतनी विशेषता पाई जाती है कि ऊपर के वृक्ष की रक्षा के लिये स्तूप के ऊपर एक चौखूँटी बाड़ बना देते थे और आदरार्थ एक छत्र भी लगा देते थे तथा चारों ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दे देते थे और इस घेरे वा बाड़ में चारों दिशाओं में चार तोरण भी बना देते थे। थोड़े में इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि ये विशेषताएँ केवल भव्यता बढ़ाने के लिये लाई गई थीं; स्तूप

की मूल आकृति में कोई परिवर्तन न हुआ था। इस प्रकार स्तूप का ब्राह्मण संप्रदाय की मंदिरशैली से कोई संबंध नहीं हो सकता, क्योंकि मंदिर मृतकों के निमित्त नहीं, देवताओं के निमित्त बनाया जाता था।

§ ३८. गुफाओं का नकशा थोड़े में यह है कि उसमें घुसते ही एक लंबा घर रहता है और उसके बाद एक छोटा, बहुत करके गोल घर रहता है। मंदिर स्थापत्य से इसका इतना संबंध है कि इसके उक्त दोनों घर उसी अनुक्रम और भाव के हैं जैसे कि मंदिर के सभा-मंडप (जगमोहन) और गर्भगृह (निज-मंदिर)। किंतु इन गुफाओं की छत छाजन की नकल होती है अर्थात्, वह कमानी-दार होती है जिसमें बत्तों की प्रतिकृति बनी रहती है। इससे जान पड़ता है कि ये गुफाएँ उन विरक्त महात्माओं की कुटियों की अनुकृति हैं जो श्रमण (मुख्यतः जैन और बौद्ध) संप्रदायों के प्रवर्तक थे। इनमें का आगेवाला अंश उनके उपदेश देने के लिये और पीछे का उनके विश्राम और साधन के लिये होता था। भगवान् बुद्ध की गंधकुटी का जो वर्णन मिलता है उससे इस बात की पुष्टि होती है। भरहुत में देवताओं की सुधर्मा सभा का एक दृश्य उत्कीर्ण है, उसके आगे की ओर किंतु उससे पृथक् इस प्रकार की छाजनदार एक कुटी भी बनी है (फलक–८)। ऐसी अवस्था में मंदिर-वास्तु से यदि इन गुफाओं का कोई संबंध हो सकता है

तो इतना ही कि इसके आगे और पीछे के प्रकोष्ठ मन्दिर-वास्तु में अनुक्रम से दर्शनार्थियों के स्थान और देवता के निजी स्थान बना दिए गए।

§ ३६. किंतु मंदिर-वास्तु की प्रकृति बौद्ध वास्तु से वस्तुतः बिलकुल भिन्न है। शेषोक्त वास्तु के अवयव अर्थात् गुफा और स्तूप यथाक्रम संतों के विश्राम और चिर विश्राम के स्थान हैं, जब कि मंदिर देवता का निवास-स्थान है और उसके शिखर आदि वैभव के निदर्शक हैं, अतएव वह संत-वास्तु से विकसित नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उक्त (गुफा के दो भागोंवाले) संबंध की भी विशेष संभावना नहीं रह जाती, प्रत्युत मंदिरस्थापत्य का विकास स्वतंत्र रूप से और अशोक के पहले से ही हुआ जान पड़ता है। है भी ऐसा ही। अर्थशास्त्र में, नगर में कई देवताओं के मंदिर बनाने का विधान है, जिसका तात्पर्य्य यह हुआ कि ऐसे मंदिरों की परंपरा चाणक्य के पहले से चली आती थी, जिसके कारण उसे अर्थशास्त्र में स्थान मिला। कृष्णपूजा पाणिनि (८वीं शती ई० पू०) के समय में विद्यमान थी और चंद्रगुप्त-काल में भी प्रचलित थी (§ १५)। ई० पू० २सरी-३सरी शती में तो वह इतनी फैल गई थी कि ऐसे पूजा-स्थानों के तीन तीन शिला-लेख अकेले उदयपुर राज्य में मिले हैं। भीटा में एक पंचमुख शिवलिंग मिला है (आर्किओलाजिकल सर्वे रिपोर्ट—१९०९-१०)

जिस पर ई० पू० २सरी शती का लेख अंकित है। प्रतिमा का अस्तित्व तो हम वैदिक काल से देख चुके हैं (§ ११)।

इन सब बातों से ब्राह्मण-संप्रदाय के मंदिर-वास्तु का स्वतंत्र एवं प्राचीनतर विकास मानना पड़ता है। ऐसी दशा में उसपर बौद्धसंप्रदाय के स्तूप-वास्तु वा गुफा-वास्तु का प्रभाव कहाँ से पड़ता? इसके विपरीत उसका ही प्रभाव पिछले मौर्य्य-काल से लेकर, जब से बौद्धों ने मूर्त्ति-पूजा के अभाव में स्तूपों का अलंकरण आरंभ किया, इधर तक बौद्ध-वास्तु पर बराबर पाया जाता है, जैसा कि हम जायसवाल के सयुक्तिक एवं सारगर्भित विमर्ष से अभी देखेंगे।

§ ४०. मंदिर-वास्तु का सबसे प्रमुख निजस्व शिखर[1] है जो पर्वत से—मेरु, मंदर, कैलास, त्रिकूट आदि से—लिया गया है। ये पर्वत देवताओं के मुख्य निवास हैं। इन्हीं को भावना और कल्पना में अनूदित करके मंदिर-शिखर का रूप दिया गया। इतना ही नहीं, मंदिर के बाहरी भागों में जो अमर-युग्म

१—फलक—६ पर, जिसकी चर्चा § ३५ ग. में हो चुकी है, शिखर वाले मंदिर बने हैं। इस संबंध में अधिक खोज और विचार होना चाहिए। यदि ये और भारत के शिखर संबधित हैं तो मंदिरवास्तु का प्रारंभ ई० पू० १५वीं शती में हो चुका था। शिखर का उल्लेख खारवेल (कलिंगराज; लगभग १६० ई० पू०) के लेख में है।

यक्ष, गंधर्व आदि की मूर्त्तियाँ मिलती हैं उनका भाव भी पर्वत की व्यंजना ही है, क्योंकि पर्वत देवताओं के साथ साथ देव-योनियों के निवास तथा क्रीड़ा-स्थल भी माने जाते हैं। वाल्मीकि रामायण में सुंदरकांड के प्रथम सर्ग में इसका रमणीय इंगित मिलता है।

"बौद्धों और जैनों के स्तूप आदि पर की नक्काशी में अप्सराओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता था। उनपर अप्सराओं की मूर्तियाँ आदि नहीं बननी चाहिए थीं। परंतु व्यवहार में यह बात नहीं। हमें बुद्धगया के बाड़ पर, मथुरा के जैन स्तूपों पर और नागार्जुन कोंडा स्तूपों तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक भवनों आदि पर अपने प्रेमी गंधर्वों के साथ भाँति भाँति की प्रेमपूर्ण क्रीड़ा करती हुई अप्सराओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। अप्सराओं की भावना का बौद्ध और जैन संप्रदायों में कहीं पता नहीं। हाँ, ब्राह्मण संप्रदाय की पुस्तकों में—उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण[1] में—

१—मत्स्यपुराण के अध्याय २५१-२६९ में इस विषय का विवेचन है और वह विवेचन ऐसे अठारह आचार्यों के मतों के आधार पर है जिनके नाम दिए गए हैं (अ० २५१ ।२—४)। अ० २७० से २७४ तक वास्तु-कला के इतिहास का प्रकरण चलता है। इस इतिहास का अंत २४० ई० के लगभग हुआ है। इन अठारह आचार्यों के कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय के विवेचन का आरंभ कम से कम ६०० ई० पू० में हुआ होगा।

अवश्य है जिनका समय कम से कम ईसवी ३सरी शती तक पहुँचता है। ब्राह्मण संप्रदाय के ग्रंथों में इस संबंध में कहा गया है कि मंदिरों के द्वारों अथवा तोरणों पर गंधर्व-मिथुन की मूर्त्तियाँ होनी चाहिएँ और मंदिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्त्तियाँ नकाशी हुई होनी चाहिएँ[1]। मथुरा में स्नान आदि करती हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ हैं। उनकी मुख्य मुख्य बातें अप्सराओं की ही हैं; स्नान करने की भाव-भंगियों आदि के कारण ही वे जल-अप्सराएँ जान पड़ती हैं। अब प्रश्न यह है कि बौद्धों और जैनों को गज-लक्ष्मी कहाँ से मिली; और गरुड़ध्वज धारण करनेवाली वैष्णवी ही बौद्धों को कहाँ से मिली? मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें ब्राह्मण संप्रदाय की इमारतों से लीं। उन दिनों वास्तु-कला में ऐसे अलंकरणों का इतना प्रचार था कि वास्तुक उन्हें छोड़ ही न सकते थे। जिन दिनों बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृति-चिह्न आदि बनाने आरंभ किए उन दिनों ऐसी प्रथा सी थी कि जिन भवनों और मंदिरों पर ऐसी मूर्त्तियाँ न हों वे पवित्र और धार्मिक हो नहीं। इसी लिये बौद्धों तथा जैनों को विवश होकर उसी ढंग की इमारतें बनानी पड़ती थीं, जिस ढंग की इमारतें पहले से देश में चली आ रही थीं। ब्राह्मण-संप्रदाय

१—मत्स्यपुराण २५७।१३—१४.

के मंदिरों पर तो इस प्रकार की मूर्तियों का होना सार्थक था, क्योंकि ब्राह्मण संप्रदाय में इस प्रकार की भावनाएँ वैदिक-काल से विद्यमान थीं एवं ब्राह्मण संप्रदाय के प्राचीन पौराणिक इतिहास से इनका घनिष्ठ संबंध था; फलतः उनके मंदिर-वास्तु में ये सब बातें चली आ रही थीं। पर बौद्ध तथा जैन वास्तु में इस प्रकार की मूर्त्तियों का एक मात्र यही अर्थ हो सकता है कि वे ब्राह्मण-संप्रदाय के वास्तु से ही ली गई थीं और उन्हीं की नकल पर केवल वास्तु की शोभा और अलंकरण के लिये बनाई जाती थीं"[१]।

१—जायसवाल—अन्धकारयुगीन भारत (ना० प्र० स०, १९३८), पृ० ६४—६६; कुछ शाब्दिक परिवर्तनपूर्वक।

दूसरा अध्याय

शुंगकाल

[१८८ ई० पू०—३० ई०]

§ ४१. मौर्यों के बाद का राजनैतिक इतिहास बड़ा उलझा हुआ है। हमारी जानकारी के लिये उसका इतना सारांश काफी है कि संप्रति के बाद मौर्य शासक असफल रहे; फलतः अंतिम मौर्य, बृहद्रथ के समय में सेना बिगड़ उठी और सेनापति पुष्यमित्र ने सेना के सामने उसे मारकर समूचे मध्यदेश पर अधिकार कर लिया। उसका वंश शुंगवंश कहलाया। अपना आधिपत्य जताने के लिये उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ किया जो हजारों वर्ष से बंद हो गया था। अफगानिस्तान, कापिशी तथा पुष्करावती में और पश्चिमी पंजाब, तक्षशिला तथा स्यालकोट में चार छोटे छोटे यूनानी राज्य कायम हो गए। बलख में एक यूनानी राज्य पहले से चला आता था। इनमें से स्यालकोट (शाकल) का शासक मेनंद्र (मिनांडर) बौद्ध धर्म का बड़ा पोषक और प्रचारक हुआ।

§ ४२. महाराष्ट्र में सातवाहन वंश के सिमुक नामक ब्राह्मण ने अपना राज्य मौर्य-युग में ही स्थापित किया था। पीछे से सातवाहनों का राज्य आंध्रप्रदेश पर भी हो गया। तब यह वंश आंध्रवंश भी कहलाने लगा। कलिंग ने, अशोक के समय में खोई हुई, अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त कर ली। वहाँ एक क्षत्रिय राज्य लगभग २१० ई० पू० में स्थापित हुआ। इस वंश का खारवेल नामक राजा, जो पुष्यमित्र का समकालीन था, बड़ा पराक्रमी हुआ। उसने सातवाहनों को भी अंशतः जीता। बलख का यवन राजा देमेत्रिय वा डिमित (अँगरेजी डेमेट्रियस) चित्तौर, माध्यमिका, मथुरा और अयोध्या (साकेत) को जीतता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था। यह सुनकर खारवेल मगध की ओर बढ़ा। इस समाचार से डिमित उलटे पाँवों भाग गया, तो भी खारवेल मगध तक आया और पुष्यमित्र को नमित कराता हुआ उत्तरापथ का दिग्विजय कर के कलिंग को लौट गया। दक्षिण में उसने पांड्य तक अपनी प्रभुता फैलाई।

साँची

§ ४३. इस युग के सबसे प्रधान मूर्ति-कला के नमूने साँची के अशोक-कालीन बड़े स्तूप के चारों दिशाओं वाले तोरण (पौर) और उसकी परिक्रमा की दोहरी वेदिका (= वेष्टनी वा कठ-

धरा) हैं। यह भारी प्रस्तरशिल्प सातवाहनों का बनवाया हुआ है एवं शुंगकाल के आरंभ वा उससे तनिक पहले का जान पड़ता है। उक्त तोरणों में चौपहल खंभे हैं जो चौदह चौदह फुट ऊँचे हैं। उन पर तेहरी बड़ेरियाँ हैं जो बीच में से तनिक तनिक कमानीदार हैं। बड़ेरियों के ऊपर सिंह, हाथी, धर्मचक्र, यक्ष और त्रिरत्न (=बुद्ध, संघ, धर्म; बौद्ध संप्रदाय का चिह्न) आदि बने हैं। समूचे तोरण की ऊँचाई चौंतीस फुट है। इसी से इनकी भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। तोरणों पर चारों ओर बुद्ध की जीवनी के और उनके पूर्वजन्मों के अनेक दृश्य बड़ी सजीवता से उभार कर अंकित हैं। बड़ेरियों में इधर उधर हाथी, मोर, पक्षवाले सिंह, बैल, ऊँट और हिरन के जोड़े—जिनके मुँह विरुद्ध दिशाओं में हैं—बड़ी सफाई और वास्तविकता से बने हैं। खंभे के निचले अंश में अगल बगल ऊँचे पूरे द्वाररक्षक यक्ष बने हैं। जहाँ खंभा पूरा होता है वहाँ ऊपर की बड़ेरियों का बोझ झेलने के लिये चौमुखे हाथी वा बौने इत्यादि बने हैं तथा इनके बाहरी ओर मानो और सहारा देने के लिये वृक्ष पर रहनेवाली यक्षिणियाँ (वृक्षिकाएँ) बनी हैं। इनकी भावभंगी बड़ी सुंदर है। ये तोरण उस युग की संस्कृति एवं जीवन के ब्योरों के विश्वकोश हैं।

§ ४४. इनकी खुदाई का आदर्श लकड़ी वा विशेषतः हाथीदाँत की नक्काशी जान पड़ती है। इनमें से दक्षिणवाले तोरण

पर लेख भी है कि वह विदिशा नगरी के हाथीदाँत के कारीगरों (दंतकारों) के द्वारा खोदा गया और उत्सर्ग किया गया है। दक्षिण भारत में आज भी चंदन और हाथीदाँत पर जो खुदाई का काम बनता है वह बहुत कुछ इसी शैली का होता है। हमारी प्राचीन प्रस्तर-मूर्ति का आदर्श अनेक अंशों में हाथीदाँत की कारीगरी पर आधृत है। हम देख चुके हैं कि हाथीदाँत पर उभारदार काम मोहेंजोदड़ो काल में भी होता था (§ ६ तथा फलक—२)। अफगानिस्तान की खुदाई में हाथीदाँत की नक्काशी के कुछ बड़े ही सुंदर फलक हाल में प्राप्त हुए हैं[१]। वे इसी शुंग-कालीन कला के हैं और साँची, भरहुत, मथुरा आदि की प्रस्तर-मूर्ति-कला से बिलकुल मिलते जुलते हैं। संभवतः गांधार शैली की मूर्तिकला का विकास ऐसे ही नमूने से हुआ था (देखिए आगे § ६१ ख)।

§ ४५. साँची के तोरणों पर कहीं बोधिवृक्ष का अभिवादन करने के लिये सारा जांगल-जगत्—सिंह, हाथी, महिष, मृग, नाग आदि—उलट पड़ा है। कहीं बुद्ध-स्तूप की अर्चा के लिये गजदल कमल-पुष्प लिए चला आ रहा है। कहीं बुद्ध के एक पूर्वजन्म का दृश्य है; जब वे छः दाँतवाले हाथी थे। अपनी हथिनियों के

१—राहुल, सोवियत भूमि (ना० प्र० स०, १६३६) पृ० ७४६.

साथ वे कमल-सरोवर में नहा रहे हैं। एक हाथी उन पर गजपतित्व-सूचक छत्र लगाए है। दूर ओट से व्याध उन पर बाण संधान रहा है (फलक–७)। कहीं बुद्ध के घर से निकलने का दृश्य है। कहीं बोधिवृक्ष पर (जो अशोक के बनवाए मंडप से घिरा है) पंखवाले आकाशचारी मालाएँ चढ़ा रहे हैं। कहीं मुनियों के आश्रम के दृश्य हैं। इन सब की खुदाई ऐसी है कि इन्हें मूर्तियों के बदले पत्थर पर उभरे हुए चित्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये कृतियाँ देखने की चीज हैं, वाणी इनका वर्णन नहीं कर सकती।

§ ४६. दोहरी वेष्टनी (बाड़) में, जो बड़ी भारी और काफी ऊँची है, जगह जगह **फुल्ले** बने हैं, जिनमें गज-लक्ष्मी[१], कमल-कलश एवं खिले हुए कमल आदि हैं। स्थान स्थान पर **गोमूत्रिका** की दौड़ है। किन्तु जहाँ यह सब कुछ है वहाँ सबसे प्रधान बात यह है कि कहीं भी बुद्ध की मूर्ति नहीं बनी है। जहाँ उनका स्थान है वहाँ एक स्वस्तिक, कमल वा चरण[२] आदि के संकेत से वे

१—उपनिषदों में श्री-लक्ष्मी की उपासना है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में नगर मध्य में लक्ष्मी के मंदिर बनाने का विधान किया है। शुंगकाल के खारवेल के मंदिरों में लक्ष्मी-मूर्तियाँ थीं।

२—चरण-चिह्न की पूजा बहुत पुरानी है। ई० पू० ८वीं शती में विष्णु के चरण की पूजा होती थी—विष्णोः पदं गयशिरसि।—यास्क, निरुक्त।

सूचित किए गए हैं। यही बात भरहुत में है और अंशतः अमरावती में भी। इसका कारण यह है कि भगवान् तथागत अपनी पूजा के विरुद्ध थे। इसी विचार से उन्होंने अपने अनुयायियों को चित्रकला में प्रवृत्त होने का निषेध किया था, क्योंकि सभी प्रकार की प्रेक्ष्य कलाओं का मूल चित्रण ही है।

भरहुत

§ ४७. शुंग-कालीन मूर्ति-कला में साँची के बाद भरहुत का स्थान है। यह जगह इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में नागोद राज्य में है। १८७३ ई० में जनरल कनिंघम ने यहाँ पर एक बड़े बौद्ध स्तूप का अवशेष पाया, जिसके तले का व्यास अड़सठ फुट था। इसके चारों ओर भी पत्थर की बाड़ थी जो अद्‌भुत मूर्ति-शिल्प से अलंकृत थी। इसका पत्थर लाल रंग का तथा चुनार जैसा रवादार है। स्तूप की ईंटों को आसपास के गाँववालों ने अपने उपयोग के लिये प्रायः साफ कर दिया था; बाड़ पर की मूर्तियों को भी कम क्षति न पहुँची थी। १८७६ ई० तक कनिंघम और उनके दल ने वहाँ खुदाई की और अधिकांश मूर्तियुक्त पत्थरों को कलकत्ता संग्रहालय में भेजकर बचा लिया। वहाँ जो कुछ बाकी रह गया था, वह इधर-उधर हो गया। हाल में उसका कुछ अंश इलाहाबाद संग्रहालय के प्राण श्री व्रज-

मोहन व्यास ने अपने संग्रहालय के लिये बड़े परिश्रम से प्राप्त किया है, जिसमें का एक टुकड़ा उन्होंने भारत-कला-भवन, काशी को भी दिया है।

§ ४८. यह बाड़ बड़ी विराट् थी। इसकी ऊँचाई सात फुट एक इंच है और तकियों के दाब (उष्णीष) के प्रत्येक पत्थर की लंबाई भी इतनी ही है। इस बाड़ के प्रत्येक अंश पर बौद्ध कथाओं के चित्र, अलंकरण, गोमूत्रिका, फुल्ले और यक्षिणी तथा देवयोनि आदि बने हैं। वहाँ के पूर्वीय तोरण पर के एक लेख से पता चलता है कि शुंगकाल में यह कृति तैयार हुई थी। भरहुत-शिल्प का जो वर्णन कनिंघम ने किया है वह आज भी अद्यतन है। अतएव हम अपनी ओर से कुछ न कहकर उसी का परिवर्तित सारांश यहाँ देते हैं—

भरहुत की मूर्तियों के विषय अनेक और विभिन्न हैं (फलक—८—१०क)। प्राय: दो कोड़ी तो जातकों के दृश्य हैं। कोई आधा दर्जन बुद्ध के जीवन से संबंधित ऐतिहासिक दृश्य हैं। महत्त्व की एक बात यह भी है कि इनमें से अनेक पर मूर्ति के विषय-निर्देशक लेख अंकित हैं। ऐतिहासिक दृश्यों में—(१) चकैड़ी जुते हुए रथ पर बुद्ध के दर्शनों को जाते हुए कोसल के महाराज प्रसेनजित् की सवारी, (२) उसी निमित्त हाथी पर जाते हुए मगधाधिप अजातशत्रु की सवारी, विशेष आकर्षक हैं। इन दृश्यों का जैसा

वर्णन बौद्ध ग्रंथों में आया है वैसे ही ये अंकन भी हैं। इसी प्रकार एक मूर्ति में जेतवन के क्रय और दान का आकर्षक दृश्य है (फलक–६क)। इसकी कथा इस प्रकार है कि बुद्ध के समय में कोसल की राजधानी श्रावस्ती (वर्तमान सहेत-महेत, जिला गोंडा) के नगरसेठ सुदत्त ने, जिसे अनाथों को भोजन देने के कारण अनाथ-पिंडक कहते थे और जो बुद्ध का परम भक्त था, बौद्ध संघ को दान देने के लिये श्रावस्ती के राजकुमार जेत से एक बारी मोल लेनी चाही जिसका नाम कुमार के नाम पर जेतवन था। जेत ने कहा—जितने सोने के सिक्के सारे जेतवन की भूमि पर बिछ जायँ वही उसका मूल्य है। सुदत्त ने इसे ललककर स्वीकार कर लिया पर कुमार नटने लगा। यह विवाद न्यायालय तक पहुँचा। वहाँ अनाथपिंडक के पक्ष में निर्णय हुआ क्योंकि, असंभव दाम माँगे जाने पर भी वह सहर्ष तैयार हो गया था। उस बारी को लेकर नगरश्रेष्ठि ने वहाँ संघ के लिये विहार अर्थात् मठ बनवा दिया। मूर्त्ति में तीन वृक्षों तथा कुछ वास्तु द्वारा जेतवन दिखाया गया है। आगे एक बैलगाड़ी से स्वर्ण-मुद्रा उतारी जा रही हैं। कुछ लोग स्वर्ण-सिक्कों को जमीन पर बिछा रहे हैं। सब सिक्के चौकोर हैं, जैसे शुंगकाल में चलते थे। सुदत्त जल की झारी लिए वन का दान कर रहा है। एक ओर संघ की भीड़ खड़ी है। वास्तु में से एक में भद्रासन बना है। यह बुद्ध का

द्योतक है, क्योंकि भरहुत में भी साँची की भाँति बुद्ध-मूर्त्ति का अभाव है।

चालीस के लगभग यक्ष-यक्षिणियों (फलक–१० क), देवता और नागराज की बड़ी मूर्तियाँ हैं जिनमें से अनेक पर उनके नाम खुदे हैं।

जानवरों की भी अनेक मूर्तियाँ हैं जिनमें से कुछ में काफी सजीवता और स्वाभाविकता है। यही हाल वृक्षों की मूर्तियों का है। उनमें भी सौंदर्य और निजस्व है। मानव-जीवन में बरती जानेवाली अनेक वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ भी यहाँ मौजूद हैं जैसे गहने, कपड़े, बरतन-भाँड़े, बाजे, शस्त्रास्त्र, नाव, रथ, पताका आदि राजचिह्न, इत्यादि इत्यादि। अलंकरणों में कटहल, माला, कमल आदि की **गोमूत्रिका** बेलें बनी हैं। इनमें से फुल्ल कमल की गोमूत्रिका सबसे गँथी हुई और सुंदर है। अन्य बेलों के बीच बीच के **खंडहर** को पूरा करने के लिये जातकों के दृश्य वा गहने इत्यादि बनाए गए हैं। गोल मंडल में गज-लक्ष्मी बनी हैं। **फुल्लों** में कहीं कहीं स्त्री वा पुरुष के मुख बने हैं (फलक–६ख)। जातक दृश्यों में कोई कोई बड़े हास्य रस के हैं, मुख्यतः जिनमें बंदरों की लीलाएँ हैं। एक स्थान पर बंदरों का एक दल एक हाथी को गाजे-बाजे से लिए जा रहा है। एक वह दृश्य भी बड़ी हँसी का है जिसमें एक मनुष्य का दाँत एक बड़े भारी सँड़से से उखाड़ा जा रहा है, जिसे एक हाथी खींच रहा है!

§ ४६. ये सब मूर्तियाँ उस युग की अन्य मूर्तियों की भाँति चिपटे डौल की हैं। अर्थात्, जैसा साँची के विषय में बता चुके हैं, ये मूर्तियाँ न होकर पत्थर पर काटे गए चित्र हैं। कह चुके हैं कि इनमें भी बुद्ध का सर्वत्र अभाव है। जहाँ उनका प्रसंग आया है वहाँ चरण-चिह्न, पादुका, छत्र, धर्मचक्र वा आसन आदि से उनका बोध कराया गया है। भरहुत की कला में एक विशेष बात यह है कि वह लोक-कला जान पड़ती है। उसमें वह सुथरापन नहीं है जो अशोकीय खंभों वा साँची के तोरणों में है। किंतु भरहुत की यह विशेषता वहीं तक सीमित हो सो बात नहीं। मथुरा, बेसनगर (ग्वालियर राज्य), भीटा[१], बुद्धगया[२], काशी[३], कौशांबी तथा सुदूर दक्षिण में जगय्यापेटा[४] आदि में जहाँ कहीं भी शुंगकाल की पत्थर या मिट्टी की मूर्ति मिली है वहाँ यही लोक-कला विद्यमान है। बात यह है कि उस समय तक लोक ने बौद्ध सम्प्रदाय को अपना

१—प्रयाग के दक्षिण, यमुना पार, चेदि की राजधानी सहजाती।

२—बुद्धगया की कला इस समूह में कुछ उन्नत है। इसका कारण राजधानी, पाटलिपुत्र, का सान्निध्य हो सकता है।

३—सारनाथ में, इस काल का एक घोड़े पर बना सवार जो घोड़े के दौड़ाने में मस्त है, दर्शनीय है।

४—जगय्यापेटा के पड़ोसी अमरावती (§ ६६) की प्रस्तर-कला का आरंभ भी संभवतः इस काल से हो चला था।

लिया था जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति वह उस कला द्वारा करता था जो उसके (लोक के) जीवन में ओतप्रोत थी। उक्त सभी स्थानों के शुंग-कालीन मूर्ति-शिल्प की शैली इतनी आसपास है कि सबकी अलग चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उनके प्रतिनिधि रूप भरहुत की चर्चा में उनकी चर्चा आ जाती है। साँची की वेष्टनी के कुछ अंश भी इसी शैली के हैं। इस प्रकार शुंग-कालीन मूर्तियों को, शैली के अनुसार, हम दो भागों में बाँट सकते हैं—एक पूर्ववर्ती, जिसे मौर्य-शुंग-कालीन कह सकते हैं, जिसके प्रमुख उदाहरण साँची के तोरण हैं। इस शैली में अशोकीय राज-कला की झलक बनी हुई है। दूसरी शुंग-कालीन लोक-कला, जिसके अंतर्गत भरहुत की प्रधानता में अन्य सभी उदाहरण आ जाते हैं। मथुरा में जहाँ शेषोक्त शैली के नमूने मिलते हैं वहाँ मौर्य-शुंग शैली की परंपरा भी विद्यमान है। इस विषय में कुषाण-काल के वर्णन में अधिक कहा जायगा (§ ६२)। मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन संप्रदाय की है किंतु उसमें ब्राह्मण विषय भी पाए जाते हैं जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं (§ ४०)। इन अवशेषों में जैन स्तूपों के जो रूप मिलते हैं उनका बौद्ध स्तूप से कोई अंतर नहीं है।

§ ५०. इसी काल में ग्रीक वैष्णव हेलिउदोर ने प्रायः १४० ई० पू०, बेसनगर (मालवा, ग्वालियर राज्य) में भगवान्

वासुदेव के पूजार्थ एक गरुड़ध्वज बनवाया। इसके गरुड़ का तो पता नहीं, किंतु शेष अंश वहाँ खड़ा है जिसे गाँववाले खाम (=खंभ) बाबा कहते हैं। स्तंभ के परगहे की शैली में कोई ग्रीकपन नहीं है, प्रत्युत वह अशोकीय स्तंभों की परंपरा में है।

इस काल में पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) के पहाड़ों में आंध्र कुल ने अनेक गुफाएँ कटवाईं। इनमें से भाजा (पूना), बेदसा (पूना), पीथलाखोरा (खानदेश) और कौंडिण्य (कोलावा) की गुफाएँ मुख्य हैं। यद्यपि आंध्र ब्राह्मण थे, किंतु ये गुफाएँ बौद्ध संप्रदाय की हैं जिससे प्रत्यक्ष है कि आंध्रों में धार्मिक संकीर्णता न थी। परंतु कला की दृष्टि से इनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है कि इनका ब्योरेवार वर्णन यहाँ किया जाय। केवल भाजा में भीतों पर सूर्य और इंद्र की भारी और दल-बल-सहित मूर्तियाँ चिपटे उभार में बनी हैं जो लोक-कला की विशाल उदाहरण हैं। वहाँ इसी प्रकार की एक यक्ष वा राजा की मूर्ति भी है। इन गुफाओं का नकशा अशोककालीन गुफाओं के नकशे का (§ ३८) विकसित रूप है, अर्थात् बत्तेदार छाजन के मंडपों की अनुकृति है। इनमें भी कहीं बुद्ध-मूर्ति नहीं है।

§ ५१. उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि में इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएँ हैं जिनमें मूर्ति-शिल्प भी है। इनमें से एक का नाम रानीगुंफा है। यह दोमंजिली है और

इसके द्वार पर मूर्तियों का एक लंबा पट्टा है जिसकी मूर्ति-कला अपने ढंग की निराली है। उसे देखकर यह भान होता है कि वह पत्थर की मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काठ पर की नक्काशी है। उड़ीसा में आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रँग दिया जाता है और तब उभरा हुआ चित्र जान पड़ता है। वर्तमान उदाहरण से पता चलता है कि वहाँ ऐसा काम उस समय भी होता था जो इस पट्टे का आधार था। इस दृष्टि से यह पट्टा महत्त्व का है। उड़ीसा की अन्य गुफाओं में हाथीगुंफा इस कारण महत्त्व की है कि उसमें सम्राट् खारवेल का लंबा लेख उत्कीर्ण है जो भारत के ऐतिहासिक लेखों में अप्रतिम स्थान रखता है।

§ ५२. शुंग ब्राह्मण थे। इतना ही नहीं, ब्राह्मण धर्म का उनके समय में विशेष उत्कर्ष हुआ। ऊपर हमने देखा है कि उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किए जो पांडवों के पौत्र जनमेजय के काल से बंद था। मनुस्मृति शुंगों के समय में बनी, महाभाष्य लिखा गया। रामायण-महाभारत ने अपना वर्तमान रूप बहुत कुछ उनके समय में पाया जिनके आधार पर भास ने अपने अद्वितीय नाटक इसी काल में लिखे। ब्राह्मण संप्रदाय में मूर्ति-पूजा उस समय भली भाँति प्रचलित थी। महाभाष्य में शिव, स्कंद और विशाख की मूर्तियों की और उनकी बिक्री की चर्चा है। इस काल का एक पंचमुख शिवलिंग भीटा में पाया गया है जिसकी

चर्चा ऊपर हो चुकी है। एक अन्य शिवलिंग सुदूर दक्षिण के गुडिमल्लम् नामक स्थान में पाया गया है। इसका ध्यान भिन्न है। पाँच फुट लंबे लिंग के सहारे प्रकांड शिव डटकर खड़े हैं (फलक–१० ख)। इस काल की एक शिवमूर्ति रामनगर (प्राचीन अहिच्छत्रा; जिला बरेली, रुहेलखंड) में है। इन उदाहरणों से जान पड़ता है कि शिव-मूर्ति की पूजा इस काल में व्यापक रूप से फैली हुई थी और उसमें पर्याप्त प्रतिमा-भेद भी था। इस काल के, विष्णु-उपासना (=कृष्ण-उपासना) के, कई स्थानों की चर्चा ऊपर (§§ ३६, ४६) हो चुकी है जिनसे उसकी भी काफी व्याप्ति जान पड़ती है। किंतु जहाँ यह सब है वहाँ उक्त मूर्तियों के सिवा शुंगकाल का और कोई भी ब्राह्मण-अवशेष नहीं पाया गया है यद्यपि बौद्ध संप्रदाय के साँची, भरहुत आदि-जैसे और जैन संप्रदाय के मथुरा में प्राप्त अवशेषों-जैसे चिह्न विद्यमान हैं[१]। इस अभाव का कारण हम अगले प्रकरण में देखेंगे (§ ७०)।

§ ५३. यह निश्चित है कि इस काल में ब्राह्मण संप्रदाय के देवमंदिरों की बहुतायत थी। यहाँ तक कि बौद्धों ने, जिनमें अभी

१—कुछ ऐतिहासिकों का यह कथन ग्राह्य नहीं हो सकता कि शुंगों ने बौद्ध-जैन संप्रदाय का उच्छेद किया। यदि ऐसा होता तो अशोकीय तथा ये चिह्न बचे न रहते।

बुद्ध की प्रतिमा न चली थी, ब्राह्मण मंदिरों के अनुकरण एवं प्रति-द्वंद्विता में बुद्ध-सूचक चिह्नों पर शिखरवाले मंदिर बनाना प्रारंभ कर दिया था। बिहार में इस काल का, पकाई मिट्टी का, एक टिकरा मिला है जिस पर एक ऐसे स-शिखर मंदिर की प्रतिकृति अंकित है जिसमें बुद्ध का प्रतीक भद्रासन स्थापित है।

जिस प्रकार ब्राह्मण संप्रदाय के मंदिरों की शैली का आधार पर्वत-शिखर है (देखिए § ४०) उसी प्रकार बौद्ध संप्रदाय के ऐसे मंदिरों की शैली अपना नमूना सप्तभौम घरों से लेती है (देखिए § २६)। ये मंदिर, जैसा कि हमने पिछले पैरा में कहा है, ब्राह्मण-मंदिरों के कारण बनने लगे थे। अतएव बौद्ध न तो यह कर सकते थे कि अपने मंदिरों को कोई नई शैली दें, न यही कि ब्राह्मण संप्रदाय के मंदिरों का अनुकरण करें, क्योंकि ब्राह्मण मंदिर पर्वत के नमूने पर अवलंबित थे और बौद्ध-उपासना में पर्वत का कोई स्थान न था। फलतः उन्होंने अपने मंदिरों की पर्यंत रेखा (सरहद की रेखा, रूप-रेखा) तो ब्राह्मण मंदिर की रखी किंतु अंतर यह कर दिया कि शिखर में पर्वत के बदले भवन के कई खंड समेट समेट के कायम कर दिए; मानों कई खंडों वाला घर ही ऊपर की ओर सँकरा होता हुआ, मंदिर की आकृति का बन गया हो। यह बात उक्त टिकरे से बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

§ ५४. शुंगकाल तक बुद्ध-प्रतिमा न मिलने का कारण यह है कि सभी युग-पुरुषों की भाँति बुद्ध भी नहीं चाहते थे कि उनकी प्रतिकृति बनाई जाय। अतएव उन्होंने अपने शिष्यों को केवल बेल-बूटे चित्रित करने की आज्ञा दी थी। किंतु उस आज्ञा का पालन केवल इस हद तक किया गया कि सब कुछ बनाकर उनकी आकृति मात्र छोड़ दी गई। परंतु जनता का इससे संतोष कहाँ होनेवाला था। उसके लिये बुद्ध सब कुछ थे; उनकी शिक्षा गौण थी। संसार के प्रत्येक धर्म में एक ऐसा युग आता है जब जनता में इस मनोवृत्ति का विकास होता है। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं उस समय ब्राह्मण एवं जैन संप्रदायों में मूर्तिपूजा पहले से चली आ रही थी। एक ओर तो यह मूर्तिपूजा का वातावरण, दूसरी ओर उक्त संप्रदायों के पूज्य कृष्ण, ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि भी बुद्ध के समान महापुरुष थे। जब उनकी प्रतिमाएँ—आराध्य देव के रूप में—पुज रही थीं तो बौद्ध जनता इसे कै दिन गवारा करती कि उसी के महापुरुष की प्रतिमा न हो। शुंग-राज्य के कारण ब्राह्मण मत अत्यधिक प्रबल हो उठा। उधर खारवेल के कारण जैन धर्म ने जोर पकड़ा। सर्वोपरि बात यह थी कि कृष्ण की उपासना के कारण भक्ति की भी एक प्रबल लहर उठ खड़ी हुई थी, क्योंकि कृष्ण के उपदेश का मुख्य तत्त्व भक्ति ही था। इन परिस्थितियों में बौद्ध संप्रदाय कै दिन पिछड़ा

रहता ? शुंग-काल के बाद ही उसने भक्ति का सिद्धांत अपना लिया और, आराध्य देवता के रूप में, बुद्धमूर्त्ति की पूजा आरंभ कर दी। मंदिर तो वह शुंगकाल में ही बनाने लगा था, उसमें मूर्ति बैठाने भर की देरी थी। प्रतिमा के नमूने के लिये उसे कहीं जाने की आवश्यकता न थी। जैसे मंदिर का नमूना उसने ब्राह्मण संप्रदाय से लिया वैसे ही बुद्ध की प्रतिमा के नमूने जैनों से ले लिए। इस विषय पर अगले प्रकरणों में कुछ और कहा जायगा (§§ ६१ ग, ६३)।

§ ५५. शुंग-काल की असंख्य मृण्मूर्तियाँ भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पाई जाती हैं। अपने चिपटे डौल के कारण, जो उस काल के मूर्ति-शिल्प की विशेषता है, ये तुरंत पहचान ली जाती हैं। इस छोटी सी पोथी में उनके विषय में सविस्तर कहना असंभव है, क्योंकि मूर्ति-कला के अंतर्गत होते हुए भी उनमें इतना निजस्व है कि उन पर एक अलग पुस्तक की आवश्यकता है। नमूने के तौर पर यहाँ केवल एक मृण्मूर्ति की चर्चा कर दी जाती है जिसे हम शुंग-काल का एक अनोखा उदाहरण समझते हैं—

§ ५६. यह पकाई मिट्टी का एक टिकरा है जो कौशांबी में मिला था और इस समय भारत-कला-भवन में संगृहीत है (फलक—११ ख)। इस टिकरे पर, चलने को तैयार एक हथिनी बनी है,

जिसे एक स्त्री चला रही है। उसके पीछे एक युवक सुरमंडल नाम का बाजा लिए बैठा है। उसके बाद एक आदमी और है जो पीछे मुँह किए एक थैली से गोल और चौकोर सिक्के बिखेर रहा है जिन्हें पीछे लगे दो आदमी बटोर रहे हैं। यह विषय ऐतिहासिक है।

ई० पू० ६ठीं शती में वत्स जनपद का, जिसकी राजधानी कौशांबी थी, अधिपति उदयन था। अपने पड़ोसी, अवंति के अधिपति, प्रद्योतवंशी चंडमहासेन से उसका वैर था। उदयन को हाथी पकड़ने का बड़ा शौक था। अपनी सुरमंडल बीन सुनाकर वह हाथियों को मोह लेता और फँसा लेता। चंडमहासेन ने एक बनावटी हाथी दिखाकर उलटे उदयन को फाँस लिया और उसे अपनी कन्या वासवदत्ता को बीन सिखाने पर नियुक्त किया। वहीं दोनों का मन मिल गया और वासवदत्ता अपनी हथिनी भद्रवती पर, जिसे वह आप चलाती थी, उदयन और उसके विदूषक वसंतक को—जो किसी प्रकार वंदी उदयन तक पहुँच गया था—बैठाकर कौशांबी चली आई और उदयन की पटरानी हुई। इस टिकरे पर उक्त मंडली के उज्जैन से चलने का दृश्य बना है। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन साहित्यों में इस घटना के अनेक उल्लेख हैं तथा भास का प्रसिद्ध नाटक प्रतिज्ञा-यौगंधरायण इसी पर अवलंबित है।

कला की दृष्टि से भी यह एक सुंदर चीज है। इसका डौल चिपटा होते हुए भी कायदे से है। इसकी प्रत्येक रेखा सुनिश्चित है; उसमें बारीकी है, साथ ही **दम-खम** भी। भारतीय कला में आरंभ ही से हाथी का एक विशिष्ट स्थान है और उसे अंकित करने में अपने कलाकार यथेष्ट सफल भी रहे हैं। प्रस्तुत टिकरे की हथिनी का अंकन भी वैसा ही हुआ है। उसका **अंग-कद कँड़े** से है। उसके बदन की झुर्रियाँ बारीकी से दिखाई गई हैं। उसके अगले पैर की मुद्रा से गति भी खूबी से व्यक्त की गई है। **पृष्ठिका** का खंडहर (व्यर्थ अवकाश) आलंकारिक फूल छींटकर दूर किया गया है। वासवदत्ता का हस्ति-संचालन के लिये किंचित् झुककर दहिने हाथ से भद्रवती के सिर पर अंकुश लगाना और बाएँ हाथ को आगे करके उसे बढ़ाना, उधर वसंतक का थैली बिखेरने के लिये, अपने शरीर को सँभाले हुए, पीछे मुड़ना भी अच्छा अभिव्यक्त हुआ है। इसी प्रकार सिक्के लोकने और बीनने वालों की मुद्राएँ भी ठीक अंकित हुई हैं।

इस भाँति इतिहास तथा कला, दोनों ही, की दृष्टि से यह टिकरा विशेष महत्त्व का है[1]।

१—इस टिकरे के संबंध में अधिक जानने के लिये देखिए—'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३८, पृष्ठ १७—२७.

कुषाण-सातवाहन-काल

[५०—३०० ई०]

§ ५७. मध्य एशिया में जातियों की उथल-पुथल के कारण शकों का, जो आर्य ही थे किंतु तब तक जंगली और अनिकेत थे, एक प्रवाह भारत की ओर आया (लगभग १२०—११५ ई० पू०) और उसने सिंध प्रांत पर अधिकार कर लिया। इस केंद्र से उन्होंने अधिकांश पश्चिमी भारत पर अधिकार जमाया। उनका राज्य मथुरा तक पहुँच गया जिससे वहाँ की शुंग-सत्ता मिट गई। इससे शुंगों को ऐसा धक्का लगा कि शीघ्र ही मगध में भी उनका आधिपत्य समाप्त हो गया। अंतिम शुंग से उनके काण्ववंशीय ब्राह्मण सचिव ने राज्य छीन लिया (७३ ई० पू०)। उधर सिंध से शक गांधार की ओर बढ़कर स्वात की दून तक पहुँच गए। पंजाब के यवन राज्यों का सफाया हो गया।

किंतु यह शक-साम्राज्य टिक न सका। आंध्र राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि और मालव के गणतंत्र ने इकट्ठे होकर उज्जैन में शकों को हराया और सारे भारत से उनकी जड़ उखाड़ दी। इसी उपलक्ष्य में गौतमीपुत्र का विरुद शकारि विक्रमादित्य हुआ और विक्रम संवत् चला (५७ ई० पू०)। इसके बाद आंध्रवंश का बड़ा उत्कर्ष हुआ। गौतमीपुत्र के लड़के वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि (४४—

८ ई० पू०) ने काण्वों से मगध भी जीत लिया (२८ ई० पू०)। प्राय: इसी समय रोम साम्राज्य स्थापित हुआ। पुलमावि ने रोम-सम्राट् के पास राजदूत भेजे थे। प्राय: सौ वर्ष तक आंध्र भारत के सम्राट् रहे। उनका दरबार विद्या और संस्कृति का केंद्र था। इस आंध्र अथवा सातवाहन काल की समृद्धि अद्वितीय थी।

५० ई० पू० के लगभग शकों का एक दूसरा प्रवाह आया। इस खाँप का चीनी नाम युचि है और अपनी प्राचीन पुस्तकों में ऋषीक मिलता है। इन्हीं के संग तुखार नामक इनका एक पड़ोसी खाँप भी था। ये ऋषीक-तुखार कुछ सभ्य हो चुके थे। हिंदूकुश के दक्षिण इनके पाँच राज्य बन गए। थोड़े ही दिनों में उनमें से एक का सरदार कुषाण बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति हुआ जिसने अन्य चार शक रियासतों को अपने राज्य में मिला लिया एवं समूचा अफगानिस्तान, कपिश तथा पश्चिम-पूर्वीय गांधार (पुष्करावती—तक्षशिला) भी जीत लिया। बलख, पामीर और उसके ऊपर तक उसका राज्य था ही। पामीर में और उसके ऊपर उस समय के पहिले से ही भारतीय संस्कृति ऐसी जम चुकी थी कि विद्वान् उस प्रदेश को, प्राचीन इतिहास में अपर-भारत (सर-इंडिया) कहते हैं। अस्तु, कुषाण राज्य की पश्चिमी सीमा पूरबी ईरान तक पहुँच गई। कुषाण बौद्ध था। अपना साम्राज्य स्थापित कर लेने पर उसने अपने दूतों के हाथ बौद्ध संप्रदाय की एक पोथी पहले पहल चीन भेजी

(२ ई० पू०) । लंबे शासन के बाद अस्सी बरस की अवस्था में कुषाण का देहांत हुआ (प्रायः ३० ई०) । कुषाण का पुत्र विमकफ्स था । उसका राज्य-काल प्रायः ३०–७७ ई० है । विम शैव था । उसने मथुरा तक जीत लिया । अब उसके विस्तृत साम्राज्य की भारतीय सीमा आंध्र सामाज्य को छूने लगी ।

विमकफ्स का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध महाराजा कनिष्क हुआ । उसने मध्यदेश और मगध तक अपनी पूरी सत्ता जमा ली । उसने प्रायः बीस बरस राज्य किया और पुष्करावती के पास पुरुष-पुर (पेशावर) बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया । सातवाहनों के दरबार की भाँति उसका दरबार भी विद्या और संस्कृति का केंद्र था । वह बड़ा पक्का और सक्रिय बौद्ध था ।

§ ५८. हमने ऊपर देखा है कि भक्तिमार्ग और ब्राह्मण संप्रदाय से प्रभावित होकर बौद्ध संप्रदाय बुद्ध को महापुरुष के बदले प्रमुख देवता मानने लगा था । आरंभ से ही बौद्धों का विश्वास था कि बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये बुद्ध अनेक अनेक जन्मों से साधन करते आ रहे थे और तब वे बोधिसत्व थे[1] । इन बोधिसत्वों ने भी अवतार वा गौण देवता का स्थान ग्रहण किया । इतना ही नहीं, नए अलौकिक बोधिसत्वों एवं अन्य देव-

---

१—इन्हीं जन्मों की कहानियों का नाम जातक है ।

ताओं की कल्पना भी की जाने लगी। इस प्रकार बौद्ध संप्रदाय का रूप ही बदल गया और उसमें मूर्तिपूजा ने जोर पकड़ा; बुद्ध, अलौकिक बोधिसत्व तथा अन्य देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं। उसका यह नया रूप महायान (बड़ा पंथ) कहलाया और उसके मुकाबिले उसका पुराना रूप थेरवाद, हीनयान अर्थात् छोटा पंथ[१]। किंतु इस प्रवाह में यह थेरवाद भी मूर्ति-पूजा से बचा न रह सका।

§ ५६. कनिष्क इसी महायान संप्रदाय का अनुयायी था। पेशावर तथा अन्य अनेक स्थानों में उसने कितने ही स्तूप और विहार आदि बनवाए और दूर दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। इस बड़े सम्राट् के वंश का उत्कर्ष लगभग १७५ ई० तक रहा। बाद उसकी प्रभुता उसके क्षत्रपों (सूबेदारों) में बँट गई। कनिष्क के उत्तराधिकारी तथा बाद के क्षत्रप बड़े कट्टर बौद्ध थे। अन्य भारतीय राज्यों को उन्होंने साफ कर डाला जिनमें यौधेयों का प्रबल गणतंत्र भी था, जो इसके पहले किसी भी देशी वा विदेशी शत्रु से न हारा था। किंतु शकों का यह आधिपत्य भी स्थायी न हो सका। ईसवी की दूसरी शती के अंत वा तीसरी शती के पहिले चरण में मध्यदेश, कोसल, मगध और उज्जैन, सुराष्ट्र आदि से वे साफ हो

१—महायान या उसके पिछले विकास इस समय चीन, जापान, कोरिया और तिब्बत में तथा हीनयान सिंहल, वर्मा और स्याम में प्रचलित है।

गए। तीसरी शती में उनका राज्य केवल मध्य एशिया, काबुल और पंजाब में बच रहा।

यह कुषाण-काल वा शक-काल हमारी मूर्ति-कला की दृष्टि से विशेष मार्के का और समस्यापूर्ण है। इसी लिये ऊपर शक-इतिहास कुछ ब्योरे से देना पड़ा।

गांधार शैली

§ ६०. इस काल में गांधार और उससे मिले हुए पच्छिमी पंजाब में एक ऐसी मूर्ति-शैली का विकास हुआ जिसका विषय सर्वथा बौद्ध है और सरसरी निगाह से देखने में, शैली सर्वथा यूनानी। इस शैली की पचासों हजार मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। वे सब की सब काले स्लेट पत्थर की वा कुछेक चूने मसाले की बनी हैं और उनकी संख्या इतनी अधिक होते हुए भी उनमें से एक पर भी कोई लेख नहीं मिला है जिससे उनके समय का पता चले। किंतु अन्य साक्षियों से उनका समय प्रायः ५० ई० पू० से ३०० ई० तक निर्धारित हुआ है। इस समय के पूर्व वा बाद इस शैली का अस्तित्व नहीं। जहाँ इसके पहले की बौद्ध कला में बुद्ध-मूर्ति का अभाव है वहाँ इसमें बुद्ध-प्रतिमा की बहुलता है। अब मुख्य प्रश्न ये हैं—

१—यह शैली कैसे उत्पन्न हुई?

२—भारतीय मूर्ति-कला का इस पर क्या प्रभाव है?

३—बुद्ध-मूर्ति की कल्पना इसने की वा भारत से ली, एवं—

४—अपने समय की वा आगे की भारतीय मूर्तिकला पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

§ ६१. इन समस्याओं के उत्तरों के दो दृष्टिकोण हैं। एक तो वह दल है जिसके मुख्य प्रतिनिधि फुशे, विंसेंट स्मिथ तथा सर जान मारशल हैं और जो कहता है कि इस शैली पर भारतीय मूर्ति-कला का कोई प्रभाव नहीं है; पहले पहल इसी ने बुद्ध-मूर्ति की कल्पना की तथा आगे की भारतीय मूर्तिकला पर इसकी अमिट छाप पड़ी। दूसरा दल, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि हैवेल, जायसवाल तथा मुख्यत: डा० कुमारस्वामी हैं, इसका पक्का और पूरा प्रतिषेध करता है। उसी का सारांश कुछ नई बातों के संग यहाँ दिया जाता है—

क—प्रत्येक कला के विकास और ह्रास का एक क्रम होता है। यह नहीं कि उसमें एकाएक परिपक्व शैली का काम बनने लगे और उसी अवस्था में वह सहसा समाप्त हो जाय। किंतु गांधार शैली में ठीक यही बात है। क्रमिक विकास-ह्रास के बदले, एक घटना के रूप में वह सहसा परिपक्वावस्था में आरंभ होती है और उसी अवस्था में सहसा समाप्त भी हो जाती है। इससे जान पड़ता है कि गांधार-मंडल में अलक्सांदर के समय से यूनानियों का जो केंद्र चला आता था उसे जब कुषाणों ने हस्तगत किया तो वहाँ के मूर्तिशिल्पियों को बौद्ध मूर्तियाँ बनाने में लगा दिया,

क्योंकि उन्होंने (कुषाणों ने) बौद्ध पंथ बड़ी प्रतीति से ग्रहण किया था और उसके प्रचार में वे पूर्ण उत्साह से प्रवृत्त थे। किंतु उनके पास कोई मूर्तिकला न थी अतएव उन्हें इस कला का आश्रय लेना पड़ा था। इन्हीं कारणों से इस कला की कुषाण-काल से तुल्यकालता है एवं यह अथ से इति तक परिपक्व ही मिलती है।

ख—बौद्ध विषयों की अभिव्यक्ति के लिये उन शिल्पियों को अपनी कल्पना से काम नहीं लेना पड़ा। उन्हें इसके नमूने दिए गए जिसकी साक्षी उनकी कृतियों में विद्यमान है, जैसा कि हम अभी देखेंगे। इतना ही नहीं, अब तो अफगानिस्तान में हाथीदाँत के ऐसे अनेक फलक भी मिल गए हैं जिन पर शुंगकालीन साँची आदि की शैली की मूर्ति कला है (§ ४४)। हमने ऊपर देखा है कि साँची की मूर्ति-शैली बहुत कुछ हाथीदाँत की मूर्ति-कला पर निर्भर है (§ ४४)। इसी प्रकार अन्य उपादानों के नमूने भी गांधार में पहुँचाए गए होंगे। किंतु यतः वहाँ के कारीगरों को थान की थान मूर्तियाँ तैयार करनी थीं अतः उन्हें इतना अवकाश न था कि वे इन नमूनों को भली भाँति आत्मसात् करते वा भारतीय **अभिप्रायों** को समझने बैठते। कुछ खास खास बातें लेकर अपनी पारंपरीण शैली के अनुसार उन्हें काम पीटना था।

गांधार शैली के भारतीय आधार की कुछ मुख्य बातें ये हैं—(१) प्रायः सभी मूर्तियों के हाथ-पाँव की उँग-

लियों की गढ़त में ग्रीक कला की वास्तविकता न होकर भारतीय भावपूर्ण लोच और वंकता है। (२) आँख का भी यही हाल है। उसमें कटाक्ष रहता है तथा उसकी पलक अड़ील (कुब्बदार) और भौंह के नीचे से शुरू होकर आँख की ओर प्रलंबित रहती है। यह विशेषता सर्वथा भारतीय है। ग्रीक आँख बड़ी तो होती है किंतु उसमें कटाक्ष का अभाव रहता है तथा उसकी पलक छोटी और भौंह में धँसी सी होती है। (३) वृक्षिकाओं की क्षीण कटि एवं अतिरिक्त पृथुल नितंब, बाहु, कटि तथा आजानु पैर की भंगिमा, उनके वस्त्र की सिलवट तथा उनकी संपूर्ण मुद्रा सर्वथा भारतीय है। (४) अलंकरण में जगह जगह भारतीय पद्म तथा **गोमूत्रिका** विद्यमान है। (५) बत्तेदार छाजन के वास्तु की अनुकृति उसी रूप में मिलती है जैसी अशोकीय और शुंग-कालीन गुफाओं में। इसी भाँति, (६) जातक दृश्यों का **संयोजन** भारतीय है और साँची से मिलता जुलता है।

ग—किन्तु इन सबसे बढ़कर बुद्ध की प्रतिमा है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार बुद्ध-पूजा चली और उनकी प्रतिमा की कल्पना का आधार मिला (§ ५४) एवं वह आधार कितना पुराना है (§ ८)। इस प्रतिमा में कुछ ऐसी बातें हैं जो यूनानी शैली-जैसी किसी वास्तविक शैली के कारीगर के मस्तिष्क से उपज ही नहीं सकतीं। उदाहरण के लिये बुद्ध की पद्मासन-

स्थित मूर्ति में उनके सर्वथा ऊर्ध्वमुख चरणतलों को लीजिए जो एक सरल रेखा में होते हैं। वास्तविकता में पद्मासन लगाने पर चरणतल न तो एकबारगी ऊर्ध्व-मुख हो जाते हैं न सरल रेखा में ही। अर्थात् पूर्वोक्त विशेषता सर्वथा काल्पनिक है। इसी प्रकार बुद्ध के, गोदी में एक पर एक रक्खे हुए दोनों हाथ यदि वास्तविक बनाए जाते तो उनकी कुहनी जाँघों तक न पहुँचकर बहुत ऊपर पसली की सीध में रहती। उँगलियों, आँखों तथा वस्त्र की विशेष चर्चा ऊपर की जा चुकी है जो बुद्ध-मूर्ति के सम्बन्ध में भी लागू होती है। कुछ बुद्ध-मूर्तियों में मस्तक के केश स्वाभाविकता लिए रहते हैं, किंतु अनेक में दक्षिणावर्त गुड़ाओं (घूँघरों) में मिलते हैं जिसका स्वाभाविकता से तनिक भी संबंध नहीं होता। इन विशेषताओं के रहते गांधार की बुद्ध-मूर्ति किसी भी प्रकार वहाँ के शिल्पियों की कल्पना सिद्ध नहीं की जा सकती।

कम से कम अशोक के समय से बौद्ध संप्रदाय भारत का लोकधर्म हो चला था फिर जो शिल्पिवर्ग (चाहे वह शिलावट रहा हो या दंतकार, बढ़ई, कुम्हार वा चित्रकार) गहरी भक्ति-भावना से बौद्ध स्तूपों, गुफाओं और चैत्यों आदि को **मूर्त-कलाओं** से अलंकृत करता आ रहा था, क्या वह बुद्ध का रूप निर्माण करने के लिये ललाता न रहा होगा? तरसता न रहा होगा? छटपटाता न रहा होगा? सारा दृश्य अंकित करके

बुद्ध को ही छोड़ जाना, केंद्र को ही रिक्त रखना उसके लिये कैसी विषम बात थी। ऐसी परिस्थिति में जिस क्षण बुद्ध-मूर्ति बनाने का सिद्धांत स्वीकृत हुआ होगा, उसी क्षण उक्त शिल्पियों ने बुद्ध-रूप बनाना आरंभ कर दिया होगा; विशेषतः जब कि उनके लिये नमूने तैयार थे। न तो उनमें इतनी धृति ही थी और न वे भविष्यदर्शी ही थे कि वे बुद्ध-मूर्ति का नमूना पाने के वास्ते उस दिन के लिये बैठे रहते जब कुषाणों की संरक्षकता में गांधार के यूनानी शिल्पी उस मूर्ति की कल्पना करेंगे। ऐसा होना तो कहानी में ही संभव है।

घ—जैसा हमने ऊपर कहा है, गांधार शैली को भारतीय मूर्ति-कला की परंपरा में न गिनना चाहिए। वह एक संयोग मात्र है। यूनानी मूर्तिकला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय वा आध्यात्मिक व्यंजना दो ऐसे विजातीय द्रव्य थे जिनकी एकता असंभव थी। फलतः गांधार कला में इन दोनों विशेषताओं में से एक भी प्रस्फुटित न होने पाई। अर्थात् वह शैली दोनों ही कलाओं की दृष्टि से असफल है। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि भारतीय मूर्ति-कला पर उसने क्या प्रभाव छोड़ा। साथ ही इसकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती कि उस शैली का कोई वर्णन किया जाय। उसका परिचय कराने के लिये उसका एक नमूना दे देना भर पर्याप्त है (फलक—१२)।

मथुरा शैली

§ ६२. गांधार की भाँति मथुरा भी कुषाण-काल में एक बहुत बड़ा मूर्ति केंद्र था। वहाँ की शुंगकालीन कला की चर्चा हो चुकी है (§ ४६)। उस काल में मथुरा में भरहुत की लोक-शैली और साँची की उन्नत शैली साथ साथ चल रही थी। इस काल में ये दोनों शैलियाँ एक हो जाती हैं, अर्थात् कुषाण आश्रय पाकर वहाँ एक राजकला रह जाती है। फलतः उसमें डौल का चिपटापन दूर हो जाता है, किंतु भरहुत के अलंकरण और अभिप्राय बने रहते हैं। इस समय की असंख्य मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं, मिलती हैं और मिलती रहेंगी। ऐसा जान पड़ता है मानों मथुरा ऐसी मूर्तियों का प्राकृतिक आकर हो। ये सभी मूर्तियाँ सफेद चित्तीवाले लाल रवादार पत्थर की हैं जो सीकरी, भरतपुर आदि की खदानों से निकलता है।

§ ६३. यक्ष, यक्षिणी, वृक्षिका, अमरयुग, क्रीडादृश्य, मंदिरों, विहारों एवं स्तूपों के और उनकी वेष्टनियों के भिन्न भिन्न अवयवों के साथ साथ अब मूर्तियों के विषयों में बुद्ध की खड़ी हुई तथा पद्मासन लगाए प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हो जाती हैं। इन सब मूर्तियों में कहीं भी गांधार छाया नहीं मिलती। शृंगार-रस-प्रधान मूर्तियों की भाव-भंगी तथा अंग-प्रत्यंगों में वही अत्युक्ति है जो पहले से चली आती है। बुद्ध-मूर्ति में भी कहीं से उस वास्तविकता

का दर्शन नहीं होता जो गांधारवालों ने अपनी कृतियों में, उस पर मढ़ना चाहा है। एक बात और ध्यान देने की है। कुषाण-कालीन मथुरा की बुद्ध वा बोधिसत्त्व मूर्तियों में अधिकांश खड़ी मूर्तियाँ हैं, जिनकी अतिरिक्त ऊँचाई तथा शैली स्पष्ट रूप से शैशुनाक मूर्तियों वा खड़ी जैन मूर्तियों की है (देखिए § ३३)। यदि इस प्रकार की मूर्ति के लिये मथुरा के शिल्पी गांधार के ऋणी होते तो इसमें उक्त परंपरा न रहती। इसी प्रकार पद्मासनासीन मूर्ति में वह परंपरा विद्यमान है जो मोहेनजोदड़ो से होती हुई (देखिए § ८) जैन मूर्तियों में चली आती थी। अलंकरणों में भी भारतीय **अभिप्रायों** के साथ साथ केवल वे ही अलंकरण हैं जिनका मूल हम लघु एशिया में देख चुके हैं और जो बहुत दिनों से भारतीय मूर्तिकला में चल रहे थे (§ ३५ ग)।

§ ६४. इस प्रकार मथुरा शैली पर कहीं से यूनानी प्रभाव नहीं पाया जाता। कुषाण राजाओं का एक **देवकुल** (मृत राजाओं का मूर्ति-गृह; देखिए § १२ नोट १) मथुरा में था। उसमें की कुषाण राजाओं की कई मूर्तियों के अवशेष मिले हैं, जिनमें छाती पर से ऊपर की ओर खंडित कनिष्क की प्रतिमा मुख्य है। इन मूर्तियों तक में कहीं से गांधार शैली का स्पर्श नहीं है, यद्यपि कुषाण सम्राट् अपने मध्य एशियाई परिच्छद में ही अंकित किए गए हैं। यदि मथुरा की अपनी मूर्ति-शैली न

होती अथवा गांधार-शैली उस समय की प्रमुख शैली होती तो ये सम्राट्-मूर्तियाँ उसी गांधार शैली में बनी होतीं वा कम से कम इन पर उसका प्रभाव अवश्य मिलता।

मथुरा में कुछ ऐसी मूर्तियाँ अवश्य मिली हैं जो या तो गांधार-मूर्तियों की प्रतिकृतियाँ हैं वा उस शैली से प्रभावित हैं; किंतु इने-गिने होने के कारण इन उदाहरणों के चश्मे से मथुरा शैली का निरीक्षण नहीं किया जा सकता। ये तो शिल्पि-विशेष वा ग्राहक-विशेष के रुचि-वैलक्षण्य के परिचायक मात्र, फलतः अपवाद मात्र हैं।

§ ६५. कुषाण-कालीन मथुरा-मूर्ति-शैली के उदाहरणों का क्षेत्र इतना विस्तृत है और उसमें इतनी विविधता है कि वह एक स्वतंत्र पुस्तक का विषय है,[१] अतएव यहाँ हम उसका केवल एक ऐसा नमूना देंगे (देखिए मुख-चित्र) जो इस शैली का अप्रतिद्वंद्व प्रतिनिधि है; इतना ही नहीं, भारतीय मूर्ति-कला के दस बीस सर्वोत्तम उदाहरणों में से है—यह उक्त चित्तीदार लाल पत्थर का बना एक मूर्तिस्तंभ है जिसकी ऊँचाई ३८½″ है। इसमें सामने के अंश में एक स्त्री खड़ी है। उसके परिपूर्ण मुखमंडल पर जो

१—मथुरा शैली के विषय में अधिक जानकारी के लिये देखिए—ना० प्र० प० (नवीन० भाग १३, १९८९ वि०) पृ० १७-४६.

गंभीर प्रसन्नता एवं शांत स्मित है वह अनुपम है। नेत्रों में विमल विकास है। उसके अंग-प्रत्यंग बड़े ही सुढार और खड़े होने की मुद्रा अत्यंत सरल, अकृत्रिम एवं निर्विकार है। दाहिने हाथ में एक पात्र है जिसे भृंगार कहते थे। इसमें राजा-रानियों के लिये सुगंधित जल रखा जाता था। बाएँ हाथ में एक पिटारी है, उसका ढकना थोड़ा खुला होने के कारण एक ओर को झुका हुआ है। खुले अंश से एक पुष्पमाला का कुछ भाग बाहर निकला हुआ है। ऐसी पिटारियों में राज-महिषियों के सिंगार-पटार की सामग्री रखी जाती थी। आज भी वैसी पिटारियों की स्मृति उन सुहाग-पिटारियों में बनी हुई है जिन्हें सौभाग्यवती स्त्रियाँ संक्रांतियों पर ब्राह्मणों को दान दिया करती हैं। मूर्ति के हाथों में इन वस्तुओं के होने के कारण यह प्रसाधिका की मूर्ति है जिसका काम प्राचीन काल की रानियों के प्रसाधन अर्थात् शृंगार की सामग्री लिए हुए, उनकी सेवा में उपस्थित रहना होता था। मूर्ति के ठीक पीछे एक खंभा बना है जिसके ऊपरी परगहे में पंखवाली चार सिंह-नारियाँ बनी हैं; उनके ऊपर एक खोखला कटोरा है। यह पूज्य नहीं, अलंकरण मूर्ति है जो किसी प्रासाद वा उद्यान की सजावट के काम में आती रही होगी।

अमरावती तथा नागार्जुनकोंडा

§ ६६. जिस समय उत्तरी भारत में गांधार शैली का और

कुषाण-कालीन मथुरा शैली का दौरदौरा था उसी जमाने में दक्षिणी भारत में एकाध बड़े ही महत्त्वपूर्ण प्रस्तर-शिल्प का निर्माण हो रहा था।

मदरास के गंटूर जिले में, जो आंध्रों का मूल प्रदेश था, कृष्णा नदी के किनारे अमरावती नामक एक कस्बा है। यह जिस जगह बसा है वह बहुत पुरानी है। २०० ई० पू० में वहाँ एक विशाल बौद्ध स्तूप बनाया गया था। इसी स्तूप के चौगिर्द आंध्रों (सातवाहनों) ने ई० २सरी शती के उत्तरार्द्ध से २५० ई० तक बाड़ बनवाई तथा ईंटों के बने हुए स्तूप के अधो-भाग को, जिसका व्यास एक सौ आठ फुट था, शिलाफलकों की दोहरी पंक्ति से ढँकवाया। इन सारे कामों के लिये संगमरमर बरता गया है जिस पर बड़े रियाज के साथ तथा बहुतायत से आश्चर्यजनक मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए हैं। शिलाफलकों में से कुछ पर स्तूप का ही अलंकृत दृश्य अंकित है जैसा कि वह अपनी समृद्धि के दिनों में रहा होगा (फलक–१३), और कुछ पर बुद्धपूजा के तथा उनकी जीवनी के दृश्य हैं। इनमें से कुछ में प्राचीन शैली के अनुसार केवल बुद्ध के संकेत बने हैं और कुछ में उनके रूप भी।

§ ६७. यहाँ की एकहरी बाड़, जो ऊँचाई में तेरह-चौदह फुट रही होगी और घेरे में छः सौ फुट से अधिक, साँची और भरहुत

की बाड़ों की भाँति काठ की वेष्टनी की प्रतिकृति है अर्थात् थोड़ी थोड़ी दूर पर मुतक्के (सीधे खंभे) हैं जिनमें बेड़े डंडे जुहाए हैं; ऊपर दाब और नीचे बंद दिया हुआ है। प्रति मुतक्के पर बीच में एक पूरा फुल्ला और नीचे-ऊपर आधे आधे फुल्ले बने हैं। इनमें भिन्न भिन्न प्रकार के कमल और अलंकरण अंकित हैं। इनके बीच की जगहों में उभारदार नकाशियाँ बनी हैं।

आकृति—९
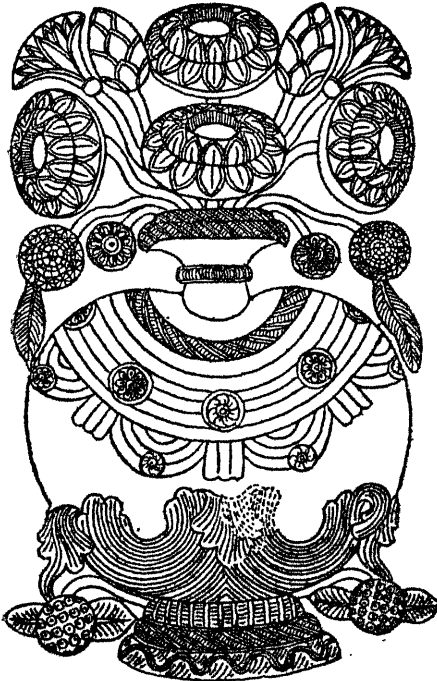
अमरावती का एक अलंकरण

प्रति बेड़े डंडे में भी दोनों ओर फुल्ल कमल बने हुए हैं। दाबों और बंदों पर लहरदार भारी गजरे बने हैं जिन्हें क्रमशः

पुरुष तथा बौने एवं तरह तरह के पशु झेले हुए हैं। ऐसा अनुमान होता है कि कोई सत्रह हजार वर्गफुट संगमरमर पर इस प्रकार की मूर्तियाँ और अलंकरण बने हुए थे। यह भी संभव है कि आरंभ में इन मूर्तियों पर पतला पलस्तर किया रहा हो और इनकी रँगाई भी हुई रही हो।

जिस समय यह स्तूप अक्षुण्ण अवस्था में खड़ा रहा होगा उस समय भारतीय मूर्ति शिल्प का अपने ढंग का, सबसे भव्य, अनोखा और अद्भुतदर्शन उदाहरण रहा होगा।

अमरावती की कला भक्ति-भाव से भरी हुई है। जहाँ बुद्ध के चरण-चिह्न के सामने उपासिकाएँ नत हो रही हैं वह देखते ही बनता है। कहीं कहीं हास्य रस के दृश्य भी हैं और आलंकारिकता तो सर्वत्र विद्यमान है। तरहदारी की दृष्टि से यहाँ की कला अपने सभी अंग-प्रत्यंग में बड़ी ही आकर्षक है। यहाँ कुछ बुद्ध-मूर्तियाँ भी हैं जो बहुत ही गंभीर और उदासीन तथा विराग-भाव-पूर्ण हैं। ये खड़ी मूर्तियाँ छः छः फुट से भी अधिक ऊँची हैं। इसी काल की सिंहल की बुद्ध-मूर्तियाँ इनसे बहुत मिलती जुलती हैं। खेद है कि अमरावती शिल्प का एक बहुत बड़ा अंश चूना बनाने के लिये प्रायः सौ वर्ष पहले फूँक दिया गया था।

§ ६८. गंटूर जिले में ही नागार्जुनकोंडा नामक स्थान में पिछले तेरह चौदह वर्ष से एक स्तूप के अवशेष मिल रहे हैं।

इस स्थान को अमरावती काल के आस-पास ही इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने बनवाया था, जिनका राज्य उस समय आंध्रों के साथ दक्षिणी भारत में चल रहा था। यहाँ का मूर्ति-शिल्प उतना उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता जितना अमरावती का; फिर भी यहाँ दर्शनीय मूर्ति-फलक निकल रहे हैं (फलक—१८)। अमरावती तथा नागार्जुनकोंडा की मूर्तियों और अलंकरणों में कुछ रोमन प्रभाव भी पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि आंध्रों ने अपने दूत रोम सम्राट् के यहाँ भेजे थे (§ ५७)। इतना ही नहीं, दक्षिण भारत का उस समय रोम से समुद्र द्वारा बहुत घनिष्ठ व्यापारिक संबंध था। अतएव उक्त प्रभाव का कारण न खोजना पड़ेगा।

इसी काल में कार्ली, कन्हेरी और नासिक की गुफाएँ भी बनीं। इनकी कला में कोई विशेष महत्त्व नहीं। कार्ली गुफा में उसके निर्माता आंध्र राजाओं और रानियों की मूर्तियाँ बनी हैं।

§ ६६. ब्राह्मण धर्म में इस समय गणेश, स्कंद, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णु की मूर्ति-पूजा भली भाँति प्रचलित हो चुकी थी। इन देवताओं की भिन्न भिन्न ध्यानों वाली मूर्तियाँ भी इस समय बनने लगी थीं। सूर्य-पूजा वैदिक काल से चली आ रही थी और शुंग-काल में हम सूर्य-मूर्तियों को भी देख चुके हैं (भाजा तथा बुद्धगया में)। इस काल में ईरान के मग ब्राह्मणों ने भारत में

आकर सूर्य की एक विशेष पूजा चलाई और उनकी वीर-वेश की खड़ी हुई मूर्ति तथा मंदिर इस काल से बनने लगे।

§ ७०. किंतु इस कुषाण-काल वा इसके पहले की ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों तथा मंदिरों के अवशेषों के अत्यंताभाव का कारण, जिसका इंगित हम ऊपर कर चुके हैं (§ ५२), यह है कि कुषाणों ने तथा उनके क्षत्रपों ने बौद्ध धर्म के प्रति अपने कट्टर उत्साह के कारण उनका समूल नाश कर डाला था। जायसवाल ने इस अत्याचार का बहुत विशद वर्णन अपने 'अंधकारयुगीन भारत' (पृ० ६६—१०१) में किया है, जिसके कुछ भाव यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है—

"कुषाण-काल से पहले की, ब्राह्मण-संप्रदाय की इमारतें पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं, पर इन्हें किसने नष्ट किया था? मेरा उत्तर है कि कुषाण शासन ने इन्हें नष्ट कर डाला था। इसका उल्लेख मिलता है कि पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे वे सब एक आरंभिक कुषाण ने नष्ट कर डाले थे और उनके स्थान पर बौद्ध मंदिर बनाए थे × × कुषाणों के समय का वर्णन महाभारत वन-पर्व, अध्याय १८८ और १९० में इस प्रकार किया गया है × ×
'वे लोग देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियों की पूजा करेंगे। ब्राह्मणों के निवास-स्थानों, महर्षियों के आश्रमों, देवस्थानों, चैत्यों और नागमंदिरों की जगह एडूक बन जायँगे

और सारी पृथ्वी उन्हीं (एडूकों) से अंकित हो जायगी। वह देव-मंदिरों से विभूषित न रहेगी' (भारत० कुंभघोणम् वन०, अ० १६०।६५–६७)"।

कितने ही पंडित उक्त अत्यंताभाव के कारण ब्राह्मण मूर्ति-मंदिर-कला का विकास कुषाण-काल के बाद से मानते हैं। किंतु इस संबंध में ऊपर, स्थान स्थान पर, जो कुछ कहा गया है, उससे उन लोगों का मत मानने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

तीसरा अध्याय

नाग (भारशिव), वाकाटक काल

[१८५—३२० ई०]

§ ७१. दूसरी शती ई० पू० के अंत में, शुंग-साम्राज्य के पतन पर भेलसा (विदिशा) में नागवंश का राज्य था, जो यादव क्षत्रिय थे। शकों के कारण देश के दुर्दिन में, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये, वे नर्मदा के दक्खिन जंगलों में जा बसे। वहाँ से निकलकर (लग० १५० ई०), बघेलखंड के रास्ते मध्यदेश—गंगा-यमुना के प्रदेश—में पहुँचकर कांतिपुरी (मिरजापुर के पास आधुनिक कंतित) में अपना नया राज्य स्थापित करके उन्होंने आर्यावर्त को शकों से मुक्त किया। फिर गंगा के अमल जल से मूर्द्धाभिषिक्त होकर उन्होंने दस बार अश्वमेध यज्ञ किए। वह वंश परम शैव था; शिवलिंग को अपने कंधे पर वहन करके उसने शिव को परितुष्ट किया था। इसी कारण यह कुल भारशिव कहलाने लगा।

§ ७२. इन नागों के समय में एक विशेष वास्तु शैली का जन्म हुआ। "वास्तु शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है—नागर शैली। इस शब्द की व्याख्या केवल इस आधार पर नहीं की जा सकती कि इसका संबंध नगर (=शहर) शब्द के साथ है। मत्स्य पुराण में—जिसमें २४३ ई० तक की, अर्थात् गुप्तकाल की समाप्ति के पहले की ही राजनीतिक घटनाएँ उल्लिखित हैं, इस शैली का नाम नहीं मिलता। हाँ, 'मानसार' में यह नाम अवश्य आया है और वह ग्रंथ गुप्त-काल में वा उसके बाद बना था। नागर शैली से जिस शैली का अभिप्राय है, जान पड़ता है, उसका प्रचार नाग राजाओं ने किया था[1]"।

इस शैली के मंदिरों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें काफी सादगी रहती है और उनकी छेंकन चौकोर होती है जिस पर का शिखर भी चौकोर ही रहता है जो ऊपर की ओर क्रमशः सँकरा होता जाता है। शुंग-काल में जैसे मंदिर होते थे उन्हीं का यह क्रम-विकास है, जो शकों के बाद पुनः चल पड़ता है। ताल वृक्ष (ताड़) नागों का चिह्न था। अतः इस शैली के अलंकरणों में ताड़ का **अभिप्राय** अकसर आता है। ऐसे पूरे खंभे मिलते हैं जो तालवृक्ष के रूप में गढ़े गए हैं। शेष अलंकरणों में भरहुत-मथुरा की परंपरा विद्यमान है।

१—जायसवाल, अंधकार०—पृ० ११६.

§ ७३. भारशिव मूर्तिशैली का अभी बहुत कम अध्ययन हुआ है। तो भी इतना कह सकते हैं कि इसके आरंभिक उदाहरणों में स्वभावतः भरहुत-मथुरा शैली की सन्निकटता है। किन्तु क्रमशः इसका निजस्व विकसित होने लगता है (फलक–१५ क)। इस काल तक वास्तुशास्त्र और मूर्तिशास्त्र के नियम निर्धारित हो चुके थे जिसमें मुख-मंडल के लिये भी एक खास आकृति निश्चित की गई थी—यह अंडाकृति थी अर्थात् शुंग और कुषाण काल के गोल मुख-मंडल के बदले अब लंबोतरे चेहरे बनने लगे थे, जो अशोकीय चामर-ग्राहिणी के मुँह से मिलते जुलते होते हैं।

§ ७४. जैसा हमने ऊपर देखा है, भारशिव परम शैव थे। जिस प्रकार के शिवलिंग वे वहन करते थे उसके अनेक उदाहरण नागौद राज्य के जंगलों में मिलते हैं। इनमें से प्रमुख वहाँ की परसमनियाँ पहाड़ी पर भूमरा गाँव के पास घने जंगल में है। भारशिवों ने शकों से गंगा-यमुना की मर्यादा की रक्षा करके उनकी मूर्तियों को अपना राज्य-चिह्न बनाया था और सिक्कों पर अंकित किया था। उन्हीं के काल से इन नदी-देवताओं की प्रतिमाएँ मंदिर-द्वारों के चौखटों पर बनने लगती हैं, जो मध्य काल तक चली आती हैं। भूमरा के मन्दिर में भी इस प्रकार के चौखट थे। यहाँ के एकमुख शिवलिंग पर का मुँह शांत और सुंदर है।

§ ७५. इस काल की मूर्तिकला की खोज, संग्रह और अध्ययन नितान्त आवश्यक है। भारशिवों ने शक-सत्ता के उच्छेद का जो कार्य आरंभ किया था उसकी पूर्ति उनके उत्तराधिकारी वाकाटकों ने की। उन दिनों पन्ना (बुंदेलखंड) का समूचा पठार, किलकिला नाम की नदी के कारण, किलकिला कहलाता था। वहाँ विंध्यशक्ति नामक, भारशिवों का एक सामंत एवं सेनापति रहता था। वह वाकाटक वा विंध्यक वंश का था। धीरे धीरे भारशिवों की सब शक्ति उसके हाथ में चली गई (शासन-काल लग० २४८—२८४ ई०)। उसका पुत्र प्रवरसेन (प्रथम; लग० २८४—३४४ ई०) बड़ा प्रतापी हुआ। अंतिम भारशिव सम्राट् भवनाग ने अपनी इकलौती कन्या प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र वाकाटक से ब्याह दी और अपने दौहित्र रुद्रसेन को अपना उत्तराधिकारी माना। इस प्रकार भारशिव वंश वाकाटक वंश में लीन हो गया। प्रवरसेन ने दिग्विजय करके चार अश्वमेध यज्ञ किए और सम्राट् पद धारण किया। आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ की संस्कृति एक करके समस्त देश को भारतवर्ष नाम के अंतर्गत ले आने का श्रेय वाकाटक वंश को ही है। प्रवरसेन का साठ वर्ष का लंबा शासन वाकाटक साम्राज्य के पूर्ण यौवन का समय है; किंतु आगे गुप्त-काल में भी उसका काफी उत्कर्ष रहा और वाकाटक राज्य तो लगभग ५३० ई० तक चलता रहा।

§ ७६. भारशिवों की भाँति वाकाटक भी शैव थे। उनके समय में भी कितने ही शिव-मंदिर बने जिनमें एकमुख और चतुर्मुख लिंगों की स्थापना हुई। इन मंदिरों की शैली में वास्तु-विस्तार और अलंकरण आरंभ हो जाता है। भारशिव काल के चौकोर शिखर में चारों ओर, कैलाश-शिखरों के व्यंजक कई पट्टे बढ़ा दिए जाते हैं और पार्वती के मंदिर में हिमालय-सूचक **अभिप्राय** पाए जाते हैं; क्योंकि पार्वती हिमालय की तनूजा हैं। इस प्रकार के मंदिरों के सबसे भव्य ज्ञात नमूने नचना में हैं जो भूमरा से प्रायः तेरह चौदह मील है। इनमें से एक चतुर्मुख शिव का है, जिसमें की शिवमूर्ति वाकाटक काल की सर्वोत्तम कृति कही जा सकती है (फलक—१५ ख)। पास ही पार्वती का भी एक मंदिर है जिसमें उक्त हिमालय की अभिव्यक्ति है। नचना वाले मंदिर और वहाँ का चतुर्मुख शिवलिंग गुप्त-कला से बहुत मिलता जुलता है; मानो वह भूमरा तथा गुप्त-कला के बीच की शृंखला है। एक वाकाटक एकमुख शिवलिंग खोह नामक स्थान में भी है जो भूमरा से पाँच मील दक्षिण है। यह भी बड़ी सुन्दर मूर्ति है जिसकी तुलना गुप्तकाल की श्रेष्ठ मूर्तियों से की जा सकती है। किंतु यह लगभग ५वीं शती की कृति है अतएव इसे हम गुप्तकला के अंतर्गत ही गिनेंगे (§ ७८)। अन्य वाकाटक-मंदिर भी अधिकतर, गुप्तों ही के समय के हैं। उनमें गुप्त-मंदिरों से

केवल संप्रदाय-संबंधी अंतर है। नाग-वाकाटकों के सब मंदिर शैव संप्रदाय के हैं और गुप्तों के वैष्णव संप्रदाय के। किंतु शैली के अनुसार दोनों ही गुप्तकला के अंतर्गत हैं और यही बात उस समय की बौद्ध प्रतिमाओं के संबंध में है जो वाकाटक और गुप्त दोनों ही साम्राज्यों में पाई जाती हैं।

गुप्त-काल

[३२०—६०० ई०]

§ ७७. भारशिवों ने कुषाणों की जड़ उखाड़ने का जो काम आरंभ किया था उसे उनके उत्तराधिकारी वाकाटकों ने पूरा किया और ३सरी शती के अंत होते होते कुषाण तो क्या उनके उत्तराधिकारी क्षत्रप तक निर्मूल हो गए। इस बीच साकेत-प्रयाग प्रदेश में एक नई महाशक्ति का उदय हो रहा था।

२७५ ई० के लगभग वहाँ गुप्त नामक एक राजा था जिसके पौत्र चंद्रगुप्त (३१९—३४० ई०) का विवाह लिच्छवि (तिरहुत) के गणतंत्र शासकों की एक कन्या से हुआ। यह संबंध गुप्तवंश के उत्कर्ष का एक मुख्य कारण हुआ। चंद्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त (लग० ३४०—३८० ई०) रणकौशल में अद्वितीय था। उसने भारतवर्ष विजय करके अश्वमेध यज्ञ किया। भारत में उसका साम्राज्य स्थापित होने पर काबुल और तुखारिस्तान के कुषाणवंशी

राजा ने तथा सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार किया। समुद्रगुप्त जैसा बड़ा विजेता था वैसा ही सुशासक भी था। कला और संस्कृति का भी वह बहुत बड़ा पोषक और उन्नायक था। वह स्वयं बीन बजाता था और कविता करता था। उसके दरबारी कवि हरिषेण की रचना उच्च कोटि की है। इसके बाद गुप्तवंश का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य अपने पिता से भी अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत और वैभवशाली हुआ। उसने अपने साम्राज्य से प्राण-दंड उठा दिया था। कालिदास संभवतः उसी के समय में थे। यह काल भारत के लिये अत्यंत गौरव का था। यदि हम कहें कि न तो इसके पहले देश की इतनी उन्नति हुई थी और न पुनः कभी, तो अत्युक्ति न होगी।

समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय में वाकाटक-साम्राज्य को जीतने के बाद उसके चेदि प्रांत का दक्षिणी भाग तथा महाराष्ट्र प्रांत तत्कालीन वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन के पास रहने दिया था। इस प्रकार छोटा हो जाने पर भी वह साम्राज्य काफी समृद्ध था। फिर समुद्रगुप्त ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता उक्त रुद्रसेन के पौत्र द्वितीय रुद्रसेन से ब्याह दी। इस प्रकार गुप्त और वाकाटक साम्राज्य स्नेह-शृंखलित हो गए। जिस समय उत्तर भारत में

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का सुराज्य था उसी समय वाकाटक-राज्य पर, अपने पति की मृत्यु के कारण, अपने नाबालिग बेटे के अभिभावक के रूप में प्रभावती गुप्ता राज्य कर रही थी। इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से गुप्त-प्रभाव वाकाटक राज्य पर भी व्याप्त था।

चंद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त (४१५-४५५ ई०) ने चालीस वर्ष राज्य किया। इस समय भी भारत में वही अद्वितीय शांति, समृद्धि और संस्कृति विद्यमान थी। कुमारगुप्त ने नालंदा में एक महाविहार की स्थापना की जो आगे चलकर वहाँ के महान् विश्व-विद्यालय के रूप में परिणत हुआ।

किंतु इस सुख-शांति में उत्तर-पच्छिमी सीमांत पर हूणों के खूनी बादल घिर रहे थे। कुमारगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् स्कंदगुप्त (४५५—४६७ ई०) के समय में यह प्रलय-घटा पंजाब तक छा गई। किंतु स्कंद ने इस दुर्दिन से देश की रक्षा की। स्कंद के बाद गुप्तवंश का प्रताप-सूर्य ढलने लगा। ५२८ ई० में उसका स्थान 'जनता के नेता' सुप्रसिद्ध यशोधर्म्म ने लिया और देश से हूणों का कंटक पूर्ण रूप से निकाल फेंका।

§ ७८. गुप्तों का कलाप्रेम और उत्कृष्ट रुचि उनके युग की प्रत्येक कृति से टपकती है। गुप्तकालीन कला का उत्कर्ष गुप्त-साम्राज्य के निःशेष हो जाने पर भी लगभग सौ वर्ष तक बना रहा। अर्थात् जहाँ तक कला का संबंध है, ३२० ई० से ६०० ई० तक

गुप्तकाल गिना जाता है। यद्यपि गुप्त मूर्तिकला वाकाटक मूर्तिकला की ही परंपरा में है किंतु गुप्त इतने सुसंस्कृत थे और उनकी कलाभिरुचि इतनी सक्रिय थी कि उस काल की समूची कलाकृति पर, चाहे वह गुप्त-साम्राज्य में रही हो चाहे वाकाटक-साम्राज्य में, गुप्त-प्रभाव मानना पड़ता है और इसी कारण उस काल की, भारत ही नहीं द्वीपस्थ भारत तक की, मूर्तिकला गुप्तकला कही जाती है।

§ ७६. सौंदर्य क्या है और अपनी कृति में उसकी अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए, इसके तत्त्व को गुप्तकालीन मूर्तिकार पूर्ण रूप से जानते थे। जैसे कुशल रसोइया छहों रसों के—तीते और कड़वे तक के—स्वादु से स्वादु व्यंजन बनाता है, जो आप आपको, एक-से-एक बढ़कर होते हैं, उसी प्रकार ये कलाकार भी समस्त रसों की सर्वांगीण अभिव्यक्ति करने में पूर्ण रूप से कृतकार्य हुए हैं।

उनकी कला में एक साथ भावुकता और आध्यात्मिकता है; गांभीर्य और रमीणयता है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध स्तोत्र जगद्धर-कृत 'स्तुति-कुसुमांजलि' का यह पद्यांश—'ओजस्वी, मधुर:, प्रसाद-विशद:'—उन कलाकारों की कृतियों पर सर्वथा लागू होता है।

अलंकरणों का कम से कम प्रयोग करके इन कलाकारों ने उसे सार्थक किया है। अलंकरण का वास्तविक उद्देश्य यह है कि

कृति में जो कमी रह गई हो उसे पूरा कर दे, उसका अलम्-कारक हो; आगे और कुछ करने को न रह जाय। यदि इसके विपरीत अलंकरणों की अधिकता होती है तो साधन न रहकर वे ही साध्य बन जाते हैं, फलतः कृति के ओज और सजीवता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अलंकरणों की भूलभुलैया में उलझकर आँखें भी अपने लक्ष्य को नहीं देख पातीं।

§ ८०. खेद है कि अभी तक कोई मार्के का गुप्तकालीन मंदिर वा उसका अवशेष नहीं पाया गया। बंबई प्रांत के अइहोल में कई गुप्त मंदिर खड़े हैं किंतु उन्हें हम इस काल के आदर्श नमूने नहीं कह सकते। एरण (जिला सागर) में समुद्रगुप्त की सम्राज्ञी के बनवाए विष्णुमंदिर में इनसे अधिक प्रसाद और विशदता है। अजंता की उन्नीसवीं गुफा का द्वार अवश्य गुफा-मंदिरों के सामने का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। किंतु यह उस वास्तु से संबंध रखता है जिसका मूल छाजनदार कुटियाँ हैं; फिर भी इसके खंभों, छज्जों और बुद्ध तथा अन्य मूर्तियों से अलंकृत दरों और ताकों से उस काल के बढ़िया से बढ़िया मंदिर-स्थापत्य का कुछ अनुमान किया जा सकता है। दरों की मूर्तियों में सपत्नीक नागराज की प्रतिमा बड़ी उत्कृष्ट है। नागराज एक राजा की आकृति के हैं। उनके ऊपर के सप्तफण से उनका नागत्व ज्ञात होता है। वे गंभीर भक्ति-भावना में निमग्न हैं और उनके बाईं ओर बैठी

उनकी भोली अर्धांगिनी उनकी इस भक्ति-मग्नता के साथ अपने मन को एकतान किए हुए बनाई गई है। दहिने पार्श्व की चामरग्राहिणी इस जोड़ी की हार्दिक एकता पर मुग्ध खड़ी है।

§ ८१. इस काल की कई मुख्य बुद्ध-मूर्तियाँ ये हैं—

१—सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति—इस पद्मासनासीन प्रतिमा की हस्तमुद्रा धर्मचक्र-प्रवर्तन की है। इसके स्वभाव से ही उत्फुल्ल मुख-मंडल पर अपूर्व शांति, प्रभा, कोमलता और गंभीरता है। अंग-प्रत्यंग में काफी सौकुमार्य होते हुए भी ऐहिकता छू नहीं गई है—'मनहु सांत रस धरे सरीरा' (फलक—१८)।

२—मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति—इस मूर्ति के मुखमंडल पर भी शांति, करुणा और आध्यात्मिक भाव का अपूर्व सम्मिश्रण है, साथ ही एक स्वाभाविक स्मित भी है। भगवान् निष्कंप प्रदीप की भाँति खड़े हैं, किंतु उस ठवन में कहीं से जकड़बंदी नहीं है। उनके वस्त्र के सलों की रेखाएँ बड़ी कलापूर्ण हैं (फलक—१९)।

३—ताम्र की बुद्ध-मूर्ति; खड़ी हुई—सुलतानगंज (जिला भागलपुर) में प्राप्त और अब बरमिंघम म्यूजियम (इँग्लैंड) में प्रदर्शित। यह मूर्ति साढ़े सात फुट ऊँची है। समुद्र की तरह महान्, गंभीर, और परिपूर्ण एक लोकोत्तर पुरुष प्रतिष्ठित है जिसका दाहना हाथ अभय-मुद्रा में, एक ऊर्मि-भंग की भाँति कुछ

आगे बढ़ा हुआ है। मुखमंडल पर अपूर्व शांति, करुणा और दिव्यता विराज रही है।

इन तीन मूर्तियों को हम सर्वश्रेष्ठ बुद्ध-मूर्ति कह सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इनके बनानेवालों ने अपनी सारी भक्ति-भावना को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसा अलौकिक दिव्य दर्शन कराकर उन शिल्पियों ने मानवता को कितना ऊँचा उठा दिया है।

§ ८२. ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों में कुछ प्रधान मूर्तियाँ ये हैं—

१—भेलसा के पास उदयगिरि में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के बनवाए हुए गुप्त-मंदिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वपुष्मान् वाराह। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी भौजाई ध्रुव-स्वामिनी का शकों से उद्धार किया था। इस मूर्ति में उस उद्धारक के तेज और वीर्य की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। भगवान् ने तमक कर पाताल-मग्न पृथिवी को सहसा और बिना आयास, फूल की तरह अपने दाढ़ों पर उठा लिया है और डटे हुए खड़े हैं।

२—गोवर्धनधारी कृष्ण—यह मूर्ति काशी के एक टीले में पाई गई थी; अब सारनाथ, बनारस, के संग्रहालय में रखी है। इसमें भी कृष्ण का अंकन बड़ा उदात्त और ओजपूर्ण हुआ है। वे गोवर्धन पर्वत को सहज में 'कंदुक-इव' धारण किए, तने हुए, दृढ़ता से खड़े हैं।

३—देवगढ़ (ललितपुर, जिला झाँसी) में एक गुप्त-मंदिर का अवशेष है। इसकी बाहरी दीवारों पर अनेक सुंदर दृश्य अंकित हैं। एक ओर शेषशायी विष्णु हैं जिनके नाभि-कमल पर ब्रह्मा स्थित हैं। लक्ष्मी चरण चाप रही हैं। ऊपर आकाश से कार्त्तिकेय, इंद्र, शिव, पार्वती इत्यादि दर्शन कर रहे हैं। लक्ष्मी के पास ही एक ओर योगी के रूप में पुनः शिव खड़े हुए हैं। वे भक्ति-भावना में निमग्न हैं। उनकी यह मूर्ति दर्शनीय है। नीचे वीर वेश में पाँच पुरुष बने हैं जिनके अंगों में काफी गति और स्फूर्ति है। एक पार्श्व में एक स्त्री बनी हुई है। ये छहों विष्णु के पार्षद वा मूर्तिमान् आयुध हो सकते हैं। दूसरी ओर नर-नारायण की तपस्या है, इसमें तपोवन के वातावरण की बढ़िया अभिव्यक्ति हुई है। तपस्वी लोकोत्तर पुरुष जान पड़ते हैं (फलक—१७)। एक तरफ अहल्या का उद्धार है। इसी प्रकार एक स्थान पर गजेंद्र का मोक्ष हो रहा है। इन सभी दृश्यों में इतनी भावना, सजीवता और रमणीयता है कि देखनेवाला मुग्ध हो जाता है। खेद है कि यह अपूर्व मूर्ति-मंडल खुले आकाश के नीचे प्रकृति की दया पर छोड़ दिया गया है। पुरातत्त्व विभाग का यह कर्तव्य है कि इसके ऊपर छाया का प्रबंध करे।

४—सूर्य-मूर्ति, कौशांबी—यह मूर्ति भी बड़ी भव्य और सुंदर है। अभी तक इसकी ओर कला-कोविदों का विशेष

ध्यान नहीं गया है। यह भी खुले हुए स्थान में बरबाद हो रही है।

५—कार्त्तिकेय, कलाभवन (काशी)—गुप्त-काल में स्वामि-कार्त्तिक की आराधना विशेष रूप से प्रचलित थी। गुप्त-सम्राटों के नाम भी अकसर स्वामिकार्त्तिक-वाची होते थे, जैसे—कुमार-गुप्त वा स्कंदगुप्त। अतएव स्वामिकार्त्तिक की गुप्तकालीन मूर्तियाँ प्राय: मिलती हैं। यह मूर्ति उनमें का एक अद्वितीय उदाहरण है। इतना ही नहीं, गुप्तकालीन सभी मूर्तियों में इसका एक विशिष्ट स्थान है।

स्वामिकार्त्तिक देवताओं की सेना के प्रमुख हैं और बाल-ब्रह्मचारी हैं। अतएव, उनमें जो गांभीर्य्य, पौरुष, उत्साह और निश्चिंतता विद्यमान है, उसे इसके निर्म्माता ने बड़ी सफलता से प्रस्फुटित किया है। सतेज मुख मंडल, प्रशस्त और उन्नत वक्ष, पीवर भुजदंड, दहने हाथ से शक्ति का दृढ़तापूर्वक धारण सेनापतित्व के सर्वथा अनुरूप है। वह अपने वाहन मयूर पर स्थित हैं जिसे देखकर कालिदास के इस चरण की याद आ जाती है—मयूरपृष्ठाश्रयिणं कुमारम्। मयूर का पिच्छ पीछे की ओर उठा हुआ है जो कार्त्तिकेय की मूर्ति के प्रभामण्डल का काम देता है (फलक—१६)।

कुमारगुप्त प्रथम (४१५–४५५ ई०) की स्वर्णमुद्राओं पर कार्त्तिकेय की मूर्ति है जो इससे बहुत मिलती जुलती है, फलतः इसका निर्माण-काल भी वही जान पड़ता है।

६—पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) में कृष्णलीला की अनेक मूर्तियाँ निकली हैं जो सभी एक समान सुंदर और सजीव हैं। राधा-कृष्ण का प्रेमालाप तथा धेनुक-वध इनमें के दो विशिष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

७—भरतपुर राज्य के रूपवास नामक स्थान में चार वृहत्काय मूर्तियाँ हैं जिनमें एक बलदेव की है जो ऊँचाई में सत्ताईस फुट से भी अधिक है। इसके मस्तक पर नाग के फण बने हुए हैं। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है जो नौ फुट से ऊपर है। शेष दो मूर्तियाँ बलदेव की पत्नी रेवती ठकुरानी तथा युधिष्ठिर के मस्तक पर खड़े हुए नारायण की हैं। अपनी ऊँचाई के कारण तो ये अपूर्व हैं ही, इनमें गुप्तकला की सब श्रेष्ठताएँ भी विद्यमान हैं।

८—सारनाथ (बनारस) के संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक मस्तक है जिसके जटाजूट का बंध बिलकुल उस प्रकार का है जैसा चीन और जापान की—भारत से प्रभावित—मूर्तियों पर पाया जाता है। इसकी नासाग्रदृष्टि तथा प्रसन्न-वदन दर्शनीय है (फलक—२० क)।

§ ८३. गुप्तकाल में बड़ी सुंदर नकाशीदार ईंटें और टालियाँ भी बनती थीं। या तो ये साँचे से ढाली जाती थीं और फिर औजार से मढारी जाती थीं या पकाने के पहले गीली अवस्था में ही औजारों से इनपर तरहें तराशी जाती थीं और तब सुखाकर ये पकाई जाती थीं। इसी प्रकार खंभे के परगहे और खंभे तथा अन्य इमारती साज भी बना लिए जाते थे। सारनाथ की खुदाई में इस प्रकार का एक पंचरत्न-स्तूप निकला था। उसमें बड़ी ही सुंदर जालियाँ, फुल्ल कमल और खंभे बने हुए थे। खेद है कि समुचित रक्षा का प्रबंध न होने से इसे नोने ने समाप्तप्राय कर दिया है।

उस काल में बड़ी बड़ी मृण्मूर्तियाँ और पकाई मिट्टी के फलक भी बनते थे जिनका सौंदर्य और सजीवता पत्थर वा धातु की मूर्तियों से भी इक्कीस है। पकाई मिट्टी की मुहरों की बड़ी अच्छी अच्छी छाप भी गुप्त-काल की एक विशेषता है। चूने-मसाले की बनी हुई मूर्तियों के संबंध में भी यही बात लागू होती है। राजगृह के मनियार-मठ की नागिनी-मूर्ति शेषोक्त शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह ऊपर से नीचे तक अत्यंत सुंदर है।

§ ८४. मौर्य-काल के बाद विशालकाय लाठों की परम्परा बंद हो गई थी। किंतु स्कंदगुप्त ने अपनी विजय के बाद उसी प्रकार का एक विशालकाय लाठ खड़ा किया जो काशी के पास,

सैदपुर कस्बे के निकट, भितरी गाँव में है। रोमन लिपि की कृपा से इस गाँव का नाम आज स्कूल-कालेजों में 'भिटारी' बोला जा रहा है और यही रूप हिंदी की इतिहास-पुस्तकों तक में चल रहा है। यशोधर्मा ने भी हूणों का उच्छेद करने पर ऐसे दो स्तंभ बनवाए जो आज मंदसोर (ग्वालियर राज्य) में धराशायी हैं।

किंतु सबसे आश्चर्यजनक चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का ढलवाया लोहे का लाठ है जिसे आज 'दिल्ली की किल्ली' कहते हैं। यह इस समय दिल्ली से कुछ मील दूर कुतुब मीनार के बिलकुल पास महरौली ग्राम में खड़ा है। इसके ऊपर उसी लोहे में **परगहा** है। अशोकीय **परगहों** से इसमें कई साज अधिक हैं। सबसे ऊपर चौकी पर पहले संभवतः गरुड़ की मूर्ति थी। संपूर्ण लाठ की ऊँचाई २३'८" है। इस लाठ की ढलाई तो बड़ी उत्कृष्ट है ही; सबसे महत्त्व की बात यह है कि इसका लोहा बिना मुरचे का है। कोई पौने सोलह सौ बरस से यह दिन-रात खुले में खड़ा है किंतु इसपर कहीं मुरचे की परछाईं तक नहीं पड़ी है। इस प्रकार के लोहे का इतना बड़ा और इतना कलापूर्ण ढलाव अब तक कहीं नहीं हुआ।

§ **८५.** गुप्तों के स्वर्ण-सिक्के भी मूर्ति-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं—चंद्रगुप्त के उसकी लिच्छवि रानी कुमारदेवी के सहित, समुद्रगुप्त के बीन बजाते हुए एवं आश्वमेधिक, चंद्रगुप्त

विक्रमादित्य के सिंह का आखेट करते हुए, कुमारगुप्त के घोड़े पर सवार तथा स्वामिकार्त्तिक वाले सिक्कों पर की आकृतियाँ बहुत ही सजीव एवं कलापूर्ण हैं।

पूर्व मध्य-काल

[६०० से ६०० ई०]

§ ८६. गुप्त-साम्राज्य के साथ हमारे जीवन की स्फूर्ति का अंत हो गया। यशोधर्मा ने अपना कोई राज्य नहीं स्थापित किया। उसके बाद देश भर में जो राजवंश हुए उनमें बहुत जल्दी जल्दी परिवर्तन होते गए और राज्यलक्ष्मी अपने चंचला नाम को पूर्ण रूप से सिद्ध करती रही। जिन वंशों का उत्कर्ष स्थायी हुआ वा जिन्होंने बड़े साम्राज्य बनाए वे भी कोई ऐसा दाय न छोड़ गए जिसका हम लाभ उठा सकते। सारे मध्ययुग में केवल कन्नौज के हर्षवर्धन (६३०—६४७ ई०) का व्यक्तित्व ऐसा है जो इस काल के अंधकार में एक जगमगाते नक्षत्र के समान है। वह बड़ा योग्य और न्यायी शासक तथा संस्कृति का संरक्षक था। स्वयं नाटककार था। कादंबरीकार बाण उसी के आश्रय में था। उसके बाद गुणी कलाकार बिलकुल निराश्रित हो गए थे। उसी के समय में पहले पहल चीन और भारत के बीच तिब्बत के रास्ते

आना-जाना शुरू हुआ। प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान्च्वाङ उसी के समय में भारत आया।

उक्त कारणों से यहाँ से हम राजनैतिक इतिहास देना आवश्यक नहीं समझते।

§ ८७. पूर्व मध्यकाल में यद्यपि गुप्तकला की अनेक विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं किंतु इसका सबसे बड़ा निजस्व यह है कि इसमें घटनाओं के बड़े बड़े दृश्य अंकित किए जाते हैं। जैसे—गंगावतरण के लिये भगीरथ की तपस्या, दुर्गा-महिषासुर-युद्ध, रावण का कैलास-उत्तोलन, शिव का त्रिपुर-दाह इत्यादि। इन दृश्यों में काफी गति और अभिनय पाया जाता है। इस कारण कुछ मर्मज्ञों के मत से भारतीय मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ काल यही है।

§ ८८. इस काल की मूर्तिकला के मुख्य तीन केंद्र माने जा सकते हैं, जिनका वर्णन हम नीचे देते हैं—

क—**वेरूल** में (जिसे आजकल एलोरा कहते हैं) पहाड़ काट कर बनाए गए मंदिर। यह स्थान निजाम राज्य में है। निजाम-रेलवे के औरंगाबाद स्टेशन से यह सोलह मील पर है। स्टेशन से पक्की सड़क बनी हुई है और मोटरें मिलती हैं। यहाँ एक पूरी की पूरी पहाड़ी काटकर मंदिरों में परिवर्तित कर दी गई है। उनमें कहीं चूने-मसाले वा

कील-काँटे का नाम नहीं है। मंदिरों की संख्या पचीस-तीस से अधिक है। ब्राह्मण मंदिरों के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन मंदिर भी है। इनका समय ८वीं शती है। इनमें से कैलास नामक ब्राह्मण मंदिर सबसे विशाल और सुंदर है। इसके सभी भाग निर्दोष तथा कलापूर्ण हैं। अपनी जगह पर यह तनकर खड़ा है एवं आस पास के पहाड़ों से, चारों ओर फैले हुए (लगभग ढाई सौ फुट गहरे और डेढ़ सौ फुट चौड़े) विशाल अवकाश द्वारा असंबद्ध है। उक्त विस्तृत आँगन में जो प्रकृति की नहीं, मनुष्य की कृति है, पहुँचकर दर्शक आश्चर्य से विजृंभित रह जाता है। इसी आँगन में यह अद्वितीय मंदिर है जिसकी लंबाई कोई एक सौ बयालीस फुट, चौड़ाई बासठ फुट और ऊँचाई लगभग सौ फुट है जिसमें उत्कृष्ट द्वार, झरोखे, सीढ़ियाँ तथा सुंदर खंभों की पंक्तियाँ बनी हुई हैं। इनके लिये पहाड़ की जो जगह खोखली की गई है उससे बढ़कर मनुष्य के धैर्य, परिश्रम और लगन के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। मसाले और उपकरण जुटाकर बड़ी से बड़ी इमारत खड़ी करने की कल्पना तो हम कर सकते हैं किंतु यह काम कैसे बना होगा इसे सोचते ही छक्के छूट जाते हैं। गुफाएँ काटना भी तादृश कठिन नहीं जितना कि एक पहाड़ में, बिना किसी लगाव के, दुमंजिली-तिमंजिली इमारत को तराश डालना। कैसा विलक्षण काम है!

इसीसे मिले हुए, खंभों की नियमित पंक्तियों पर आधृत, तीन सुंदर प्रतिमा-मंडप हैं। इनमें बयालीस पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। रावण कैलास को उठा रहा है; भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदंड का अवलंब ले रही हैं। उनकी सखियाँ भाग रही हैं किंतु भगवान् शिव अटल-अचल हैं और अपने चरण से कैलास को दबाकर रावण का श्रम निरर्थक कर रहे हैं। मंदिर के बाहरी अंश के एक कोने में त्रिपुर-दाह का बड़ा जोरदार अंकन है।

यहाँ के अन्य मंदिरों में नृसिंहावतार का दृश्य, भैरव की ओजपूर्ण मूर्ति, इंद्र-इंद्राणी की मूर्तियाँ, शिव-पार्वती का विवाह तथा मार्कंडेय का उद्धार आदि बड़ी सुंदर, विशाल, भावपूर्ण और सजीव कृतियाँ हैं। कैलास-मंदिर में एक पत्थर से तराशा एक बड़ा दीपस्तंभ भी है। कैलास का निर्माण राष्ट्रकूट (राठौर) राजा कृष्ण (लग० ७६०–७७५ ई०) ने कराया था।

ख—इस काल के दूसरे प्रमुख मूर्ति-केंद्र **एलिफेंटा** के गुफा-मंदिर हैं। यह स्थान बंबई से प्राय: छः मील दूर एक टापू में है, जिसका वास्तविक नाम धारापुरी है। इस द्वीप में दो बड़े-बड़े पर्वत हैं जिनके ऊपरी भाग को काट काटकर ये मंदिर बनाए गए हैं। इन मंदिरों की कई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं। एक तो महेश्वर की प्रकांड त्रिमूर्ति जिसके

मुख-मंडलों पर बड़ी प्रशांत गंभीरता है; विशाल जटाजूट सुंदर मुकुट का काम दे रहे हैं। बालों की पेचदार लटें और आभूषण बड़े ही सुंदर बने हैं। इस मूर्ति में तथा इस काल की अन्य मूर्तियों में नीचे के ओठ को बहुत मोटा और निकला हुआ बनाया है। यहाँ की दूसरी मूर्ति शिवतांडव की है। यह मूर्ति बहुत कुछ खंडित हो जाने पर भी भावमग्न नृत्य की सुंदर निदर्शक है। यहाँ की योगिराज शिव की मूर्ति भी, जिसमें वे अपने नाम 'स्थाणु' को सार्थक कर रहे हैं, बड़ी ही गंभीर और भव्य है। 'यथा दीपो निवातस्थः' को इसे हम सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानते हैं। यहाँ शिव-पार्वती-विवाह का दृश्य भी है। यह वेरूल से भी सुंदर है। पार्वती के आत्मसमर्पण का भाव और शिव का उन्हें सादर ग्रहण करना दिखाने में मूर्तिकार पूर्ण सफल हुआ है। धारापुरी का रचना-काल भी ८वीं शती है।

ग—इस काल के तीसरे मुख्य केंद्र दक्षिण में कांची के सामने समुद्रतट पर **मामल्लपुरम्** में एक-एक चट्टान से काटे हुए विशाल मंदिर हैं जिन्हें 'रथ' कहते हैं। ये संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं। इनकी शैली छाजनदार वास्तु की है और इनका एक समूह, जिसमें ऐसे सात मंदिर हैं, सप्तरथम् कहा जाता है। इन मंदिरों को पल्लव राजा महेंद्र वर्मा प्रथम (लग० ६००—६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (लग० ६२५—६५० ई०)

ने बनवाया था। इनमें के आदि-वाराह-रथ नामक मंदिर में महेंद्र वर्मा और उसकी रानियों की तुल्य-कालीन प्रतिमाएँ तथा धर्मराज-रथ नामक मंदिर में नरसिंह वर्मा की समकालीन मूर्ति बनी हुई है। महिष-मंडपम् नामक मंदिर में शेषशायी विष्णु की मूर्ति, जिसमें एक ओर उन पर आक्रमण करते हुए मधुकैटभ भी दिखाए गए हैं, दर्शनीय है। वहीं पर दुर्गा की महिषासुर से युद्ध करती हुई, अनेक-योद्धा-संकुल मूर्ति है जिसमें बड़ी गति और सजीवता है।

किंतु मामल्लपुरम् की सबसे आश्चर्यजनक मूर्ति भगीरथ की तपस्या का दृश्य है। यह मूर्ति एक विशाल खड़ी चट्टान पर, जो अट्ठानबे फुट लंबी और तैंतालीस फुट चौड़ी है, काटी गई है। अस्थिमात्र अवशिष्ट भगीरथ गंगा को भूतल पर ले आने के लिये तपस्या में निमग्न हैं। उनके साथ सारा दिव्य और पार्थिव जगत्, यहाँ तक कि पशु भी उसी तपस्या में निमग्न हैं। कितना प्रभावोत्पादक दृश्य है! इसके एक एक अंश इतने असली और भावपूर्ण बनाए गए हैं कि देखने से तृप्ति नहीं होती।

अशोक के पुराने मंदिर के अवशेष पर, बुद्धगया के मंदिर का प्रारंभिक रूप इसी समय बना जो कई बार मरम्मत होते होते अपने वर्तमान रूप को पहुँचा है।

§ ८९. इस काल की फुटकर मूर्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम मिलती हैं। बंबई के परेल नामक भाग में, म्युनिसिपैलिटी की एक नई सड़क बनाते हुए, १९३१ में मजदूरों को जोगिया रंग के पत्थर की एक विशाल शिवमूर्ति मिली जो बारह फुट ऊँची और लगभग छः फुट चौड़ी है। यह मूर्ति अनोखी है; इसमें सात शिव-मूर्तियों का समूह है, जो मध्य के सबसे नीचेवाले शिवरूपी तने से शाखाओं की भाँति निकली हुई हैं। इन मूर्तियों की मुख-मुद्रा बड़ी शांत, भव्य और गंभीर है। इनके नीचे दो अनगढ़ मूर्तियाँ हैं जो संभवतः इसी परिवार की थीं और उनके भी नीचे मूल शिव के चरणों की सतह में दो संगीतक हैं जो शिवकीर्तन में मस्त हैं। इनमें का भी एक अधबना है। ऐसा शिव-समूह और नहीं पाया गया (फलक—२१)।

§ ९०. गुप्तकाल में भारतीय राज्य बोर्नियो द्वीप के पूर्वी छोर तक पहुँच गया था। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में सुवर्णद्वीप अथवा यवभूमि (= सुमात्रा-जावा) में शैलेंद्र वंश का राज्य स्थापित हुआ जो शीघ्र एक साम्राज्य बन गया। उसकी राजधानी श्रीविजय (आजकल का पालेंबांग) थी। यों तो सारे द्वीपस्थ भारत में ब्राह्मण-बौद्ध संप्रदायों के अनेकानेक मंदिर और मूर्तियाँ विद्यमान हैं और यही बात स्थलीय बृहत्तर भारत के बारे में भी है, जिसके अंतर्गत एशिया का अधिकांश आ जाता है; किंतु इस प्रकार की

मूर्ति एवं मंदिरों में जो सौंदर्य उक्त शैलेंद्र वंश के बनवाए जावा के बोरोबुदुर नामक स्थान के अनोखे मंदिरों में है वह अन्यत्र नहीं। ये मंदिर इसी काल की ८वीं शती के बने हुए हैं। कला-मर्मज्ञों ने इन्हें पत्थर में तराशे हुए महाकाव्य कहा है। इनमें जातकों और भगवान् बुद्ध की जीवनी के अनेक दृश्य बने हुए हैं। शिल्प की दृष्टि से इनमें यह विशेषता है कि एक दृश्य के लिये पत्थर के कई-कई टुकड़ों का उपयोग हुआ है जिनमें मूर्ति के अलग अलग अंश ऐसे ठीक ठीक काटे गए हैं कि जुहा देने पर उनमें बाल भर का भी अंतर नहीं रह जाता; कला की दृष्टि से इनमें शांति और आध्यात्मिकता का जो सौंदर्य है वह भी अनुपम है।

दक्षिण भारत में नटराज की प्रसिद्ध मूर्तियाँ इसी काल से बनने लगीं (देखिए §१०६)।

चौथा अध्याय

उत्तर-मध्यकाल

[९००—१२०० ई०]

§ ९१. १०वीं शती के आरंभ के साथ मध्यकाल का उत्तरार्ध चलता है। इसका संबंध उन राजवंशों से है जिनमें से कितने ही अब भी विद्यमान हैं, जैसे—चंदेल, परमार और राठौर (राष्ट्रकूट) इत्यादि।

यह वह समय है जब हमारे कलाकारों की कल्पना अपनी प्रौढावस्था को पार करके बुढ़ापे में प्रविष्ट हो चुकी थी। फलतः इस काल के मूर्ति एवं मंदिर निर्माता कलाकार न रहकर शिल्पी मात्र रह गए थे। अर्थात् उनका हृदय नहीं, मस्तिष्क काम कर रहा था—वे कोई नई उपज न कर सकते थे। अतएव, गुप्तकाल की कुछ विशेषताओं का रूढ़ियों के रूप में पालन करते हुए अति अलंकृत शैली चालू करना ही उनकी मुख्य नवीनता रह गई थी।

फलतः यह मूर्ति एवं वास्तु कला के सौंदर्य का नहीं, चमत्कार का युग था। इनकी कृतियों में कला नहीं, कलाभास है।

मंदिरों के आवरण में बनाई जानेवाली मूर्तियों का यह उद्देश्य कि वे देवताओं के आवास (सुमेरु, कैलास आदि पर्वतों) को सूचित करें, अब लुप्त हो जाता है। अब वे मंदिर की आलंकारिक **तरहों** की सामग्री बन गई हैं। अब स्तंभों, घुड़ियों, परगहों तथा **तमंचों** पर अधिक से अधिक मूर्तियाँ अलंकरण के उद्देश्य से बनाई जाने लगीं, अर्थात् गुप्त-काल के मंदिरों में वा आरंभिक मध्यकाल तक के मंदिरों में जो मूर्तियाँ वास्तु की विशदता को न बिगाड़ते हुए स्थान-विशेष में खास **अभिप्राय** से बनाई जाती थीं अब वे अलंकरण के लिये ठसी जाने लगीं।

इस काल की मूर्तिकला का रसास्वादन करने के लिये इसका अन्य कालों की रचनाओं से तुलनात्मक अवलोकन न करना चाहिए। ये मूर्तियाँ स्वतः देखी जायँ तो निस्संदेह अपने चमत्कार से, दर्शक पर बड़ा प्रभाव डालती हैं।

§ ६२. मूर्ति-वास्तु कलाओं की दृष्टि से उत्तर-मध्य कालीन भारत को हम मोटे तौर पर छः मंडलों में बाँट सकते हैं—१—उड़ीसा मंडल, जिसके मुख्य मंदिर भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी में हैं। २—बंगाल-बिहार मंडल, जहाँ की मूर्तियाँ पालवंश की संरक्षकता में बनी हैं। इनमें की अधिकांश महायानीय

बौद्ध धर्म से संबंध रखती हैं और प्रायः सभी गया के काले पत्थर की बनी हैं। ३—बुंदेलखंड मंडल, (जहाँ उस समय चंदेलों का राज्य था;) इसके मुख्य उदाहरण खजुराहो के मंदिर हैं। ४—मध्यभारत मंडल, मुख्यतः मालवा के मंदिर, जो धारानगरी के परमारों के बनवाए हुए हैं (जिस राजकुल में प्रसिद्ध भोज उत्पन्न हुआ था), इसके अंतर्गत हैं। मध्य भारत के कलचुरियों ने भी बड़े बड़े भव्य मंदिर बनवाए। ५—गुजरात-राजस्थान मंडल, जिसमें मुख्यतः गुजरात के सोलंकी और अजमेर के चौहानों के बनवाए हुए वा उनकी छत्रच्छाया में बने हुए मंदिर हैं। ६—तामिल मंडल, अर्थात् जिसका संबंध चोल तथा होयशल राजवंशों की मूर्ति और वास्तु कला से है और जिसके अंतर्गत उस युग के दक्षिण भारत के बड़े बड़े मंदिर हैं। इस काल की मूर्तिकला मंदिर कला की इतनी समाश्रित है कि पहले मंदिरों का वर्णन ही उचित जान पड़ता है।

पंजाब के तत्कालीन प्रसिद्ध मंदिरों में काँगड़ा की दून में स्थित पहाड़ में कटे मसरूर के मंदिर अपनी सुंदरता के लिये प्रसिद्ध हैं। बैजनाथ के मंदिर में मंडप के ऊपर सुंदर झरोखे हैं तथा मंदिर के प्रवेश-द्वार पर भव्य गोल खंभे लगे हैं जिनके परगहे पूर्ण घट की आकृति के हैं। पंजाब की काँगड़ा दून भर में और भी अनेक सुंदर मंदिर फैले हुए हैं।

§ ९३. इस काल की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण छतरपुर राज्य (बुंदेलखंड) में स्थित चंदेलों का बनवाया हुआ खजुराहो का मंदिर-समूह है। वहाँ छोटे बड़े पचासों जैन और हिंदू मंदिर हैं। इनमें कंडरियानाथ महादेव का विशाल मंदिर मुख्य है (फलक—२६)। जमीन से एक सौ सोलह फुट ऊँचा उठकर जिस सुंदरता से यह खड़ा है वह देखने ही की वस्तु है। कारीगर ने इसकी विशाल कुर्सी के तले जो भारी चबूतरा दे दिया है उससे इसकी शान और भी बढ़ गई है। इसके क्रमशः छोटे होते हुए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य मालूम होते हैं जो कला में कैलाश की अभिव्यक्ति के अनुपम नमूने हैं। प्रदक्षिणा-पथ में सुंदर स्तंभों की योजना है और उसमें (प्रदक्षिणा-पथ में) चारों ओर भव्य ऊँचे झरोखे बने हैं। मंदिर का चप्पा चप्पा सुंदर मूर्तियों तथा आलंकारिक **अभिप्रायों** से ढका है, किंतु इनमें बहुत सी कामशास्त्र-संबंधी अश्लील मूर्तियाँ भी हैं जिनका मंदिर के पवित्र वातावरण से कोई संबंध नहीं। यद्यपि हमारी मूर्तिकला में आरंभ ही से अमर युग्म, वृक्षिकाओं तथा यक्षों के अंकन में शृंगारिकता रहती थी, पर उनमें अश्लीलता नहीं आने पाती थी, किंतु इस काल में तंत्र की प्रेरणा से कला में भी अश्लीलता का प्रदर्शन हुआ। जिस उद्देश्य से तांत्रिकों ने धर्म की ओट लेकर कुत्सित कर्मों का समर्थन किया उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर इस समय की

कला में भी अश्लीलता आई। आज कल के कुछ विद्वान् इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करने पर उतारू हुए हैं किंतु ऐसा प्रयत्न सर्वथा बालिश है।

खजुराहो के चतुर्भुज विष्णु के और जैन तीर्थंकर आदिनाथ के मंदिरों की भी बिलकुल यही शैली है। केवल उन मूर्तियों की विभिन्नता से जो सारे मंदिर पर उत्कीर्ण हैं, उनमें भेद जान पड़ता है। जैन मंदिरों में अश्लील मूर्तियों का अभाव है। बुंदेलखंड में ललितपुर सब-डिविजन के चाँदपुर दुधही और मदनपुर में भी चंदेलों के बनवाए अनेक मंदिर हैं जो आज भी उनकी सुसंस्कृति की साख भर रहे हैं।

§ ६४. ग्वालियर के किले में १०९३ ई० का बना एक सुंदर मंदिर है जिसे सास-बहू का मंदिर कहते हैं। इसका वास्तु बड़ा मौलिक है जिसमें शिखर-शैली और छाजन-शैली का सुंदर सम्मिश्रण है। इस प्रदेश का सबसे सुंदर मंदिर नीलकंठ या उदयेश्वर का है जिसका निर्माण भोज के भतीजे उदयादित्य परमार ने १०५९—१०८० ई० के बीच किया। यह मंदिर लाल पत्थर का बना है और उक्त महाराज के बसाए उदयपुर (भिलसा के पास, ग्वालियर राज्य) में स्थित है। यह मंदिर अपनी शान का एक ही है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि मंदिर के चारों ओर उसके शिखर से चार चौड़ी पट्टियाँ चलती हैं जो मंदिर की जड़ तक चली आती हैं।

इन पट्टियों के बीच में जो स्थान बचते हैं उनमें मुख्य शिखर के छोटे छोटे नमूने बैठा दिए गए हैं जिनसे मंदिर की शोभा बहुत ही बढ़ गई है।

कलचुरियों (हैहयों) ने मध्य-प्रांत से लेकर काशी तक बड़े बड़े मंदिर बनवाए। उनका कर्णमेरु नामक एक सप्तभौम मंदिर काशी में था जो उस समय की कृतियों में बड़ा भव्य समझा जाता था। अब कलचुरियों के अवशिष्ट मंदिरों में जबलपुरवाला जोगिनियों का मंदिर सर्वोत्कृष्ट है।

§ ६५ राजस्थान का अधिकांश उस समय गुजरात के राजनीतिक और सांस्कृतिक शासन में था; वहाँ तथा गुजरात के मंदिरों में इस काल की अति अलंकृत शैली पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। जोधपुर राज्य में ओसिया नामक स्थान में बारह बड़े बड़े मंदिर हैं, जिनमें सूर्य का मंदिर मुख्य है। मुधेरा का सूर्य-मंदिर, डभोई के मंदिर, सिद्धपुर पाटन के मंदिर (जिनमें सबसे पुराना रुद्रपाल का बनवाया हुआ है), सोमनाथ का मंदिर जो कई बार नष्ट हुआ और बनवाया गया, गिरनार और शत्रुंजय (पालीटाणा) के देवनगर (अर्थात् जहाँ मंदिरों के ही नगर बसे हैं, जिनमें आदमी रात टिकने नहीं पाता) इस शैली के उदाहरण हैं। यद्यपि मुसलमानों ने गुजरात के बहुतेरे मंदिर तोड़े, फिर भी वे इस शैली की सुंदरता से ऐसे

आकृष्ट हुए कि अपनी मसजिदों में, मूर्तिमात्र छोड़कर, इसे कायम रखा।

वड़नगर का १०२६ ई० का बना तोरण भी इस शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। किंतु इसके प्रधान और लोकोत्तर उदाहरण आबू पर्वत पर के चार हजार फुट की ऊँचाई पर देलवाड़ा नामक ग्राम के निकट दो जैन मंदिर हैं। इनमें से एक विमलशाह नामक वैश्य का बनवाया हुआ १०३२ ई० का है, दूसरा तेजपाल नामक वैश्य का बनवाया हुआ १२३२ ई० का। ये दोनों ही आशिखरांत संगमरमर के हैं।

यद्यपि इनके अलंकरणों में अत्यधिकता के साथ साथ यह दोष भी है कि वे अलंकरण और मूर्तियाँ बिलकुल एक-साँ हैं, अर्थात् वही वही अलंकरण और वही वही रूप घड़ी घड़ी दुहराया गया है, फिर भी इनमें ऐसी ऐसी विलक्षण जालियाँ, पुतलियाँ, बेल बूटे और नक्काशियाँ बनाई गई हैं कि देखनेवाला दंग रह जाता है। मंदिरों में एक इंच स्थान भी खाली नहीं छोड़ा गया है। संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है, मानों किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत रेत कर आभूषण बनाए हों, वा यों कहिए कि बुनी हुई जालियाँ और झालरें पथरा गई हैं। यहाँ की छतों की सुंदरता का तो कहना ही क्या! इनमें बनी हुई नृत्य की भाव-भंगीवाली पुतलियों और संगीत-मंडलियों के सिवा बीच में संगमरमर का एक

झाड़ भी लटक रहा है जिसकी एक एक पत्ती में बारीक कटाव है (फलक—२५)। यहाँ पहुँच जाने पर ऐसा मालूम होता है कि स्वप्न के अद्‌भुत लोक में आ गए। आज दिन आगरे के ताज की शोभा के इतने गुण गाए जाते हैं, किंतु यदि इन दोनों मंदिरों की ओर थोड़ा भी ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इनकी सुंदरता ताज से कहीं अधिक है।

§ ६६. उड़ीसा भर में इस काल के अनेक मंदिर फैले हैं; किंतु इनमें से मुख्य पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य-मंदिर और भुवनेश्वर का मंदिर-समूह है (फलक—२८)। इन मंदिरों की शैली में बहुत कुछ समानता है, जिसे हम दो-एक वाक्य में कह सकते हैं—अत्यधिक अलंकृत होते हुए भी इनमें ऐसा भारीपन और थोथापन है एवं इनकी कुर्सी इतनी नीची है कि इनकी भव्यता को बड़ा धक्का पहुँचता है। इनके शिखर ऊपर पहुँचते पहुँचते कुछ गोलाई लिए हो जाते हैं, जिन पर का चिपटा आमलक गला दबाता सा जान पड़ता है। फिर भी ये मंदिर बड़े विशाल और बहुत रच-पच के बने हैं। इनमें नाग-कन्याओं की, नृत्य के अंगों और नायिका-भेद की बड़ी सुभग मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके भोले मुख पर से आँख हटाए नहीं हटती। उड़ीसा की मूर्तियों में कितनी ही मूर्तियाँ ऐसी भी हैं जिनमें मातृ-ममता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। माता

अपने शिशु का लाड़ करने में मानो अपने हृदय को निकालकर धर देती हुई अंकित की गई है।

किंतु उड़ीसा के मंदिर भी अपने काल के व्यापक दोष से नहीं बचे हैं—इन पर भी अश्लील मूर्तियों की भरमार है।

कोणार्क का मंदिर रथ के आकार का बना है जिसमें बड़े विराट् पहिए हैं और जिसे बड़े जानदार घोड़े खींच रहे हैं।

§ ६७. दक्षिण में राजराज चोल ६८५ ई० में तांजोर की गद्दी पर बैठा। यह बड़ा प्रतापी, बहुत बड़ा विजेता और सुशासक था। इसने तांजोर में राजराजेश्वर नामक विशाल शिव-मंदिर बनवाया। इसकी विशेषताएँ ये हैं कि इसमें कई परकोटे हैं जिनमें चारों ओर बड़े भव्य और विशाल फाटक (गोपुरम्) बने हैं। बीच में मंदिर है जिसका शिखर शंकु आकृति का है जो ऊपर पहुँचकर आमलक के बदले एक गुम्बद में समाप्त होता है। मंदिर के आगे की ओर एक विशाल मंडप है जो एक-एक पत्थर के बड़े बड़े खंभों पर खड़ा है। इन खंभों के भव्य घोड़िए उड़ानदार घोड़े वा शार्दूल की आकृति के हैं। इसे कल्याण-मंडपम् कहते हैं। इसका छज्जा बहुत भारी है जो **झाँकदार** न होकर **गोला-गलता** वाला है। यहीं पर यह लिख देना भी अप्रासंगिक न होगा कि दक्षिण के अन्य मंदिर भी विशेषतः इसी शैली के अनुकरण पर हैं, जिनमें १७वीं शती के चिदंबरम् और मदुरा के मंदिर उल्लेखनीय हैं।

मदुरा के एक मदिर का मंडप नौ सौ पचासी खंभों का है। इन खंभों पर अद्भुत नकाशी और आदम-कद मूर्तियाँ बनी हैं। तामिल भारत में मूर्ति-वास्तुकलाओं की परम्परा आज भी जीवित है।

१११९ ई० में मैसूर अर्थात् दक्षिणी कर्नाटक में यादवों का एक वंश प्रबल हो उठा। इस वंश का दूसरा नाम होयशल था। हालेबिद नामके स्थान में इनका बनाया हुआ होयशलेश्वर नामक मंदिर है। यह मंदिर बाहर से बहुत ही अलंकृत है। प्रायः समस्त हिंदू देवी-देवता और पौराणिक कथाएँ इस पर उत्कीर्ण हैं तथा एक से एक सुंदर अलंकरणों की पट्टी पर पट्टी बनाकर इसका आकर्षण और भी बढ़ा दिया गया है (फलक—२६)। १३११ ई० में मुसलिम आक्रमण के कारण यह मन्दिर अधूरा रह गया।

§ ६८. यहाँ तक उत्तर मध्यकालीन कतिपय प्रधान मंदिर और मंदिर-समूहों का कुछ विवरण देकर अब हम इस काल की कुछ मूर्तियों का परिचय देंगे, किंतु ऐसा करने के पहले इस काल की मूर्तियों की विशेषता के संबंध में कुछ ज्ञातव्य बातें दे देना उचित जान पड़ता है—

१—शिल्पशास्त्र की रूढ़ियों के कारण कलाकारों ने मूर्ति के मान (माप) तथा आयुध, वाहन इत्यादि अंगों पर विशेष ध्यान दिया। अधिकतर देवताओं के हाथ बहु-

संख्यक होते हैं जिनमें, उन देवताओं का सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिये, नाना प्रकार के आयुध दिए जाते हैं।

२—अधिकांश मूर्तियाँ **कोर** कर बनाई गई हैं। उनके मुख-मंडल पर योगस्थ भाव की अभिव्यक्ति का विशेष ध्यान रखा गया है। उनकी मुखाकृति उसी अंडाकार का विकास है जो भारशिव-गुप्तकालीन मूर्ति शैली का आदर्श था। अब इस मुखमंडल के कपोल पीन और उभरे हुए होते हैं; चिबुक को अलग-सा करके दिखाते हैं जिसकी निचली सीमा के बीच गाड़ भी बना देते हैं। इन मुख-मंडलों की एक विशेषता यह है कि सामने की बनिस्बत एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने पर वे अधिक सुंदर लगते हैं।

३—इन मूर्तियों में बल खाती हुई देह का इतना अतिरंजित प्रदर्शन होता है कि वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता, फिर भी गढ़न में कहीं से अशक्तता वा असफलता नहीं पाई जाती। किंतु हस्त और चरण की मुद्राओं में गुप्तकालीन सरलता का अभाव है।

४—जैन तीर्थंकरों की मूर्ति की गढ़न में विशेष अंतर नहीं आता। मानो इस तपःप्रधान संप्रदाय की कला पर भी उसके तपोबल से, समय का कोई प्रभाव पड़ता ही नहीं।

§ ६६. उत्तर भारत की उत्तर मध्य कालीन प्रस्तर-मूर्तियाँ दो बड़े विभागों में बँट जाती हैं—एक चुनार वा अन्य खदानों के

रवादार पत्थरों की, जिनका रंग मटीला, खाकी वा जोगिया होता है; दूसरे पाल राजाओं के आश्रय में बनी बिहार और बंगाल की, जो गया के कसौटी वा उससे मिलते-जुलते काले पत्थरों की हैं। शेषोक्त मूर्तियों में वैष्णव, शैव और शाक्त आदि ब्राह्मण संप्रदायों और महायानीय बौद्ध संप्रदायों की मूर्तियाँ मिलती हैं। उक्त काले पत्थरों के महीन और घने रवों तथा गहरे रंग के कारण इन मूर्तियों पर की नकाशी के ब्योरे बड़े साफ रहते हैं एवं ये ढालकर बनाई गई जान पड़ती हैं। इस प्रकार की एक विशिष्ट विष्णु-मूर्ति गोरखपुर में निकली थी जो वहाँ अब एक मंदिर में बैठा दी गई है, किंतु काशी के शंखूधारा नामक उपांत में इसी शैली की एक विष्णु-मूर्ति है जिसके हाथ खंडित हैं। इसे हम पाल-कालीन सर्वोत्तम ब्राह्मण मूर्ति समझते हैं। इसका चेहरा बड़ा भव्य एवं प्रसन्न और आकृति प्रभावशाली है।

§ १००. साधारण पत्थर की मूर्तियों में महोबे से प्राप्त पद्म-पाणि अवलोकितेश्वर (फलक—२० ख) तथा सिंहनाद अवलो-कितेश्वर की मूर्तियाँ, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में हैं, दर्श-नीय हैं। इनमें रूढ़ि की कमी है और इनके अंग-प्रत्यंग खुले-से हैं जिसके कारण इनकी कल्पना मौलिक जान पड़ती है। किंतु इन दोनों में इतना सादृश्य है कि इन्हें किसी एक पुराने नमूने पर अवलंबित होना चाहिए, जिसमें थोड़ा थोड़ा अंतर करके ये दो

मूर्तियाँ कल्पित कर ली गई हैं। फिर भी इनकी तुलना पूर्व-मध्य-कालीन मूर्तियों के साथ की जा सकती है।

कला-भवन में शिव-पार्वती के वैवाहिक दृश्य की एक मूर्ति है। यह मटमैले गुलाबी पत्थर की है और इस काल की मूर्तिकला का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। मूर्ति में आगे सद्यःपरिणीत शिव-पार्वती हैं। उनके मुँह पर अवसर के अनुकूल यथेष्ट प्रसन्नता है। उनके वस्त्र, आभूषण आदि बड़ी खूबी और बारीकी से गढ़े गए हैं। प्रधानता के लिये यह युगल-मूर्ति बड़ी बनाई गई है। पीछे बराती के रूप में गाते-बजाते शंकर के गण, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह, कार्त्तिकेय और गणेश, पृथ्वी और नागराज तथा शिव के पार्षद आदि, सभी बड़ी सुंदरता से उत्कीर्ण हैं। अलंकारिक नकाशी आवश्यकता से अधिक नहीं है (फलक—२३)।

नाचते हुए गणपति की मूर्तियाँ इस काल में बहुत बनती थीं। इनका एक अच्छा उदाहरण भारत-कला-भवन, काशी, में है। यह अष्टभुज मूर्ति चुनार के पत्थर की है और अंशतः घेर कर बनाई गई है। इसमें गणेश का रूप भावपूर्ण है; नाचने की प्रसन्नता उनके मुँह पर झलक रही है और उनकी सारी आकृति मुद-मंगल-दाता है। उनका त्रिभंग और ताल पर पड़ता हुआ बायाँ चरण सुंदरता से दिखाया गया है (फलक – २४)।

§ १०१. पाल राजाओं के समय में सुंदर धातु-मूर्तियाँ भी बनती थीं। इनमें से अधिकांश ऐसी हैं जिनमें इस काल की आलंकारिकता की ही छटा है; किंतु कुछ में काफी भाव, ढवन की सरलता और उन्मुक्तता भी है। कई बरस पूर्व गया जिले के कुर्किहार नामक स्थान में एक ही जगह पाल-कालीन सैकड़ों धातु-मूर्तियाँ निकली थीं जिनमें की अधिकांश इस समय पटना संग्रहालय में हैं। इनमें की कई मूर्तियों में उक्त विशेषताएँ हैं। बोधिसत्त्व की एक खड़ी मूर्ति इसका एक अच्छा उदाहरण है (फलक—२७)।

इस काल के 'पृथ्वीराज-विजय' काव्य से पता चलता है कि अब तक देवकुल (§ १२, नोट १) बनते थे, किन्तु अब उनमें की राज-मूर्तियाँ खड़ी के बदले घोड़े पर सवार होती थीं।

§ १०२. नवीं शती के अंत में जावा श्रीविजय से अलग हो गया और तब वहाँ के स्वतंत्र राजा दक्ष ने प्रांबनन नामक स्थान में एक शिवक्षेत्र स्थापित किया जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों के मंदिर बनवाए। इनमें शिव-मंदिर सबसे विशाल और ऊँचा बनाया गया तथा बीच में रखा गया। इन मंदिरों के सामने त्रिदेव के तीन और छोटे छोटे मंदिर हैं एवं इस क्षेत्र की चहार-दीवारी के चारों ओर सैकड़ों छोटे छोटे शिव-मंदिर हैं। इन मंदिरों पर राम और कृष्ण की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं जो हमारी मूर्ति-कला

में अपना जोड़ नहीं रखतीं। और तो क्या, भारत में भी इन विषयों की ऐसी मनोहर मूर्तियाँ नहीं बनीं। प्रांबनन में शिव की दो प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं। एक तो देवता के स्वरूप में, जिनके मुखमंडल पर असीम शांति, ध्यानस्थता और गांभीर्य रहता है (फलक—२२); दूसरे, ऋषिवेश में, जिनमें जटा-जूट के साथ दाढ़ी भी रहती है।

जावा में १३वीं शती तक मूर्तिकला के अनुपम नमूने मिलते हैं। इनमें से सर्वोत्तम राजा रजससंग अमुर्वभूमि (१२२०—१२२७ ई०) के समय की बौद्ध प्रज्ञापारमिता की प्रतिमा है। इस मूर्ति के सुढार मुख-मंडल पर की श्री, शांति, सरलता, सुकुमारता और प्रसन्नता निराली है। कहते हैं कि इस छवि का आदर्श उक्त राजा की रानी देदेस के सौंदर्य से लिया गया है (फलक—३०)।

१४वीं शती के आरंभ से अर्वाचीन काल तक

[उत्तर भारत]

§ १०३, १३वीं शती के बाद उत्तर भारत की मूर्ति-कला में कोई जान नहीं रह जाती। मुसलमान विजेता मूर्ति के विरोधी थे, फलतः उनके प्रभाव-वश यहाँ के प्रस्तर-

शिल्प के केवल उस अंश में कला रह गई जिसमें ज्यामितिक आकृतियों वा फूल-बूटे की रचना होती थी। मूर्तियों के प्रति राज्याश्रय के अभाव में ऊँचे दरजे के कारीगरों ने अपनी सारी प्रतिभा अलंकरणों के विकास में लगाई।

१५वीं शती में महाराणा कुंभा बहुत बड़ा वास्तु-निर्माता हुआ। उसने अनेक विशाल मंदिर और अपनी गुजरात-विजय का स्मारक एक कीर्ति-स्तंभ बनाया जो एक सौ बाईस फुट ऊँचा है। उसके बनाए मंदिरों में मुख्य कुंभस्वामी विष्णु-मंदिर है जिसे आज मीराँबाई का मंदिर कहते हैं। जहाँ उक्त कीर्तिस्तंभ वा इस मंदिर का अलंकरण बहुत उत्कृष्ट है और बनावट बड़ी धूमधामी है, वहाँ इनकी मूर्तियाँ बिलकुल निर्जीव और अकड़ी-जकड़ी हैं--यद्यपि कीर्तिस्तंभ को मूर्तियों का विश्वकोष कहना चाहिए, क्योंकि उसमें अनेकानेक देवी-देवताओं की ही नहीं, नक्षत्र, वार, मास और ऋतुओं तक की मूर्तियाँ हैं; यहाँ तक कि त्रिमूर्ति के साथ साथ अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी उत्कीर्ण है।

१६वीं शती के अंत में आमेर के महाराज मानसिंह ने वृंदावन में गोविंददेव का विशाल मंदिर बनवाया। औरंगजेब ने इसका समूचा एक खंड नष्ट कर दिया। अब इसके गर्भगृह और सभा-मंडप मात्र बच गए हैं। उतने ही से इसकी कला की महत्ता प्रकट होती है। इसका अनोखापन यह है कि इसके किसी भी

अलंकरण में मूर्ति नहीं बनाई गई है। खंभे, घुड़िए, झालर, कँगनी आदि में सर्वत्र फूल-बूटे के वा ज्यामितिक अलंकरण हैं।

§ १०४. महामना अकबर की उदारता के कारण मानसिंह इस मंदिर को बनवा सका था। स्वयं अकबर का बनवाया आगरे का महल, जिसे आज जहाँगीरी महल कहते हैं तथा फतहपुर-सीकरी के भवन का वास्तु सर्वथा भारतीय है। वहाँ की पंजमहल नामक इमारत में एक के ऊपर एक, पाँच बारहदरियाँ हैं जो क्रमशः छोटी होती गई हैं। इसका भाव बिलकुल मंदिर के शिखर का है। अकबर-जहाँगीर-काल में महाराज वीरसिंहदेव ने दतिया का अप्रतिम प्रासाद तथा ओरछा का सुंदर नगर निर्माण किया और उसमें चतुर्भुज का विशाल मंदिर बनाया। यह मंदिर भी उस काल का एक विशिष्ट उदाहरण है। इसके भव्य शिखर के आगे गुंबद का संयोजन बड़ा कलापूर्ण है। गुंबद के ऊपर एक छोटी सी गुमटी देकर उसका सौंदर्य और भी बढ़ा दिया गया है।

§ १०५. किंतु उत्तर भारत में मूर्तिकला का ह्रास उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि आज जयपुर इत्यादि में भद्दी, ठिंगनी और प्राचीन परंपरा के विपरीत मूर्तियाँ बन रही हैं। पाश्चात्य ढंग की मूर्तिकला के अनुकरण पर तो अपने यहाँ की इस कला का पुनरुद्धार असंभव है, क्योंकि दोनों के सिद्धांत में आमूल अंतर है; हाँ, श्री० अवनींद्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में चित्रकला का जो

पुनरुत्थान हुआ है उससे अवश्य अपनी मूर्तिकला के पुनरुद्धार की आशा की जाती है और इस दिशा में प्रगति हो भी चली है। सर्वश्री प्रभातरंजन खास्तगीर, रामकिंकर बैज तथा देवीप्रसाद रायचौधरी आदि उदीयमान कलाकारों से देश को बड़ी बड़ी आशाएँ हैं।

[दक्षिण भारत]

§ १०६. हम ऊपर कह आए हैं कि दक्षिण में अभी तक मूर्ति-मंदिर-कला विद्यमान है (§ ६७)। वस्तुतः ७वीं-८वीं शती से, जब उत्तर भारत में हमारी उन्नति और विकास का क्रम समाप्त हो चुका था, दक्षिण ने इस क्रम को बनाए रखने का भार अपने ऊपर ले लिया था। ७वीं-८वीं शती में भागवत जैसे अद्वितीय ग्रंथ की रचना द्रविड़ भारत में हुई। ७८८ ई० में केरल प्रदेश में शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने बौद्ध संप्रदाय के दार्शनिक तथ्य को, जो इस समय वज्रयान आदि के रौरव में सड़ गल रहा था, एक नया रूप देकर पुनः प्रचारित किया और हमारे गिरे हुए नैतिक जीवन को उठाया। फिर तो वेद के भूले हुए अर्थ का फिर से प्रकाशन (सायण भाष्य के रूप में), स्मृतियों की समयानुकूल उदार व्याख्या (पाराशर-माधवीय के रूप में), रामानुज, मध्व और वल्लभ के धार्मिक सुधार की लहरें रत्नाकर की ओर से ही उत्तर भारत में आईं। इनमें से

रामानुज का व्यक्तित्व तो ऐसा महान् हुआ जिसने रामानंद के द्वारा कबीर जैसे संत को उत्पन्न किया और तुलसी जैसे युग-पुरुष के निर्माण का कारण हुआ।

जीवन की इस स्फूर्ति को दक्षिण ने, कला में भी अनूदित किया। उसकी नटराज प्रतिमा इस जाग्रति का मूर्त रूप है। यों तो इस ब्रह्मांड की सृति में एक नृत्य विद्यमान है। इस सृति—गति—में जहाँ देखिए लय और ताल चल रहे हैं। जिस क्षण उस लय-ताल में बाल भर का भी अंतर पड़ता है, प्रलय हो जाता है। नटराज-मूर्ति परमात्मा के इस नृत्यमय विराट् स्वरूप का भी प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार लय-ताल के उक्त अंतर से जो अवस्था—प्रलय—उत्पन्न होती है उसमें भी एक अन्य प्रकार का नृत्य है। यही उद्भ्रांत नृत्य, यही तत्त्वों का विलोड़न, पुनः सृति का कारण होता है—महिम्न-स्तोत्र में इस तांडव का बड़ा विशद और सजीव शब्द-चित्र अंकित किया गया है—'आपके पाँव की ठोकर से पृथ्वी का ठिकाना संशय में पड़ जाता है। आकाश में भुज-परिघों के घूमने से ग्रह-नक्षत्र व्याकुल हो जाते हैं और जटा से टकराकर स्वर्ग डगमगाने लगता है। फिर भी आप जगत् की रक्षा के लिये ही नाचते हैं (क्योंकि इसी विसृष्टि में नई सृष्टि का बीज निहित है)। क्या कहना है, आपकी विभुता भी कैसी विकट है'! नटराज-मूर्ति की तात्त्विक व्याख्या उक्त दोनों ही नृत्यों से अर्थात् (क)

ब्रह्मांड के अहर्निश नृत्य से और (ख) नए सृजन से गर्भित ताण्डव नृत्य से की जाती है। किंतु प्रश्न तो यह है कि वह कौन सी मनोवृत्ति थी, कौन सी प्रेरणा थी जिसने दक्षिण के नटराज की इस विशद कल्पना में प्रवृत्त किया? वह और कुछ नहीं, निश्चयेन वही पुनरुत्थान की भावना थी जिसकी चर्चा ऊपर हुई है।

कतिपय कला-मर्मज्ञों का यह निरीक्षण बड़े ही मार्के का और बिलकुल ठीक है कि भारतीय मूर्ति-कला केवल दो कृतियाँ निर्माण करने में समर्थ हुई है। एक तो शान्ति और स्थिरता की अभिव्यक्ति—बुद्ध-मूर्ति; दूसरे, गति और संसृति का निदर्शन—नटराज-मूर्ति।

नटराज की मूर्तियाँ ताँबे की वा कभी कभी पीतल की होती हैं एवं ढालकर बनाई जाती हैं। १५वीं-१६वीं शती से लेकर वर्तमान काल तक के इनके उदाहरण मिलते हैं; मदरास संग्रहालय, सिंहल के कोलंबो संग्रहालय, तथा बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका) में इनका उत्तम संग्रह है। किन्तु सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तांजोर के बृहदीश्वर-मंदिर में है। संभवतः उससे भी उत्तम और प्राचीन उदाहरण अन्य मंदिरों में तथा पृथ्वी में दबे पड़े हैं। उदात्त नृत्य में मस्त भगवान् नटराज के अंग अंग से गति और स्फूर्ति छिटक रही है। प्रसन्न मुख-मंडल ताल का सम देता जान पड़ता है। भगवान् की जटा और उदरबंध फहरा रहे हैं, उनके नाग-भूषण लहरा रहे हैं।

शक्ति का निदर्शक बायाँ पैर नृत्य की 'गत' में ऊपर उठा हुआ है और दहना मूर्तिमान् तमस् 'मल' के कुचल रहा है। उनके चार हाथों में से दहने हाथ में सुदिन का सूचक डमरू डिमक रहा है और बाएँ से अशिव-दाहक अग्नि की शिखाएँ उठ रही हैं। अभय और वरद शेष दो हाथ पल्लव की तरह लहलहा रहे हैं। जिस प्रकार नाचती हुई फिरहरी की गति जब अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है तो वह बिलकुल अविकंप हो जाती है और उस भमने में ही उसकी पूरी आकृति दीखने लगती है, मानो वह जहाँ की तहाँ ठहरी हो; ठीक यही भावना नटराज-मूर्ति के देखकर होती है (फलक—३१)। अनेक नटराज-मूर्तियों में प्रभा का एक मंडल भी होता है जिसका इसमें अभाव है।

दक्षिण की अन्य 'कांस्य' मूर्तियों में शिव के अनेक रूपों की; शिव-भक्तों की; दुर्गा, लक्ष्मी, विष्णु, गणेश, आदि देवी-देवताओं की, तथा नृसिंह, राम, नृत्यगोपाल, वेणुगोपाल आदि अवतार-संबंधिनी एवं हनुमान आदि की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। इन सब में अपना अपना निजस्व और विशेषता पाई जाती है।

§ १०७. इनके सिवा इस काल में दक्षिण ने धातु की उत्कृष्ट व्यक्ति-मूर्तियाँ भी बनाईं। ऐसी मूर्तियों का एक बड़ा अच्छा उदाहरण उधर के लुप्त हिंदू-राज्य विजयनगर के सबसे प्रतापी और सुसंस्कृत राजा कृष्णदेव राय (१५०९—१५३० ई०) और उसकी दोनों

रानियों की प्रतिमाएँ हैं (फलक--३२)। यह विजयनगर राज्य १३३६ ई० में तुंगभद्रा नदी के किनारे स्थापित हुआ और शीघ्र ही एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया जिसके अंतर्गत कृष्णा नदी के उस पार का सारा दक्षिण भारत था। इसके अधिपति रायवंश ने विजयनगर नामक महानगर निवेशित किया जो प्रायः दो शतियों तक बनता रहा। इसमें अति अलंकृत दक्षिणी शैली के अनेक मंदिर और देवस्थान थे जिनमें विष्णु का विट्ठलस्वामी नामक तथा राम का हजारा रामस्वामी नामक मंदिर प्रमुख थे। शेषोक्त मंदिर पर मूर्तियों में समस्त रामायण उत्कीर्ण है किंतु ये मूर्तियाँ अकड़ी-जकड़ी हुई हैं। हाँ, यहाँ का अलंकरण अद्भुत है। इसी शैली का १६वीं शती का एक मंदिर ताड़पत्री (जिला आनंद-पुर, मदरास) में है। यह हरे पत्थर का है और विजयनगर शैली का सबसे उत्कृष्ट नमूना है। कृष्णदेव राय का समय विजयनगर साम्राज्य के प्रताप का मध्याह्न था। १५६५ ई० में दक्षिण की बहमनी सल्तनतों ने एक होकर विजयनगर को छार-खार कर डाला। पाँच महीने तक वे लोग पूरी शक्ति से वहाँ के मंदिरों और भवनों को तोड़ते, फोड़ते, जलाते और ढाहते रहे। तब कहीं वे इस नगर को, जो अपने समय में एशिया भर के सुंदरतम और समृद्धतम नगरों में से था, मटियामेट कर पाए। अब भी इसके तूदे बिलारी जिले में, हंपी गाँव के चारों ओर, दूर दूर तक फैले हुए हैं।

देश के सौभाग्य से दक्षिण में आज भी प्राचीन शैली के ऐसे मूर्तिकार बच रहे हैं जो वहाँ की अच्छी से अच्छी मूर्ति की तद्वत् प्रतिकृति तैयार कर सकते हैं; इतना ही नहीं, अपनी कल्पना से, अनेक अंशों में स्वतंत्र रचना करने की सामर्थ्य भी रखते हैं।

उपसंहार

§ १०८. कला की कृतियों में कलाकार की अनुभूति की सहानुभूतिमय अभिव्यक्ति रहती है। एक उदाहरण लीजिए— रास्ते में एक दुखिया पड़ा है। कितने ही व्यक्ति उधर से आ-जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिन्हें अपने काम की धुन के कारण वा निरीक्षण के अल्पतावश उस दुखिया के वहाँ विद्यमानता की अनुभूति ही नहीं होती, भान ही नहीं होता। कुछ लोग ऐसे हैं जिनका ध्यान तो उधर जाता है, किंतु वे उस दयनीय को देखते ही मुँह मोड़ लेते हैं। उन्हें उसके फटे, गंदे चीथड़े, विकृत मुख, सड़े-गले अंग से घिन लगने लगती है। इने गिने ऐसे भी हैं जिनका हृदय उसे देखकर विगलित हो उठता है; और, उनसे भी कहीं कम, शायद हजार में एक ऐसा भी है जिसे उसके प्रति सहानुभूति ही नहीं है बल्कि अपनी कृति में उस सहानुभूति की वह अभिव्यक्ति भी करता है। यही है कलाकार—चाहे वह अपनी सहानुभूति शब्दों द्वारा व्यक्त करे, चाहे स्वरों द्वारा, चाहे प्रेक्ष्य-कलाओं द्वारा।

यतः कलाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति में सहानुभूति है अतः उसकी रचना में रस होता है, रमणीयता होती है। इसी लिये कला रसात्मक है, रमणीय अर्थ-प्रतिपादक है। संस्कृत में घृणा शब्द घिन और करुणा दोनों के अर्थ में आता है। इस दुहरे अर्थ में ऊपर की समूची व्याख्या निहित है। एक ही घिनौना दृश्य एक के हृदय में नफरत और दूसरे के हृदय में वेदना उत्पन्न करता है। अस्तु, ऐसी अभिव्यक्ति के वास्ते कलाकार के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह किसी वास्तविक दृश्य से ही नमूना ले। यदि उसकी मनोवृत्ति में उक्त विशेषताएँ हैं तो वह अधिकतर अपनी कल्पना के जगत् से ही अपेक्षित वस्तु (=थीम) पा लेता है।

ऐसी कृतियों को जब तक हम कलाकार के हृदय से एकतान होकर न देखें तब तक उनका रसास्वादन नहीं कर सकते। प्रेक्ष्य-कला भी एक भाषा है। जिस तरह काव्य शब्दों के द्वारा भावों को अभिव्यक्त करता है उसी तरह प्रेक्ष्य-कलाएँ आकृतियों के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति करती हैं। अतएव, जिस भाँति प्रत्येक भाषा की प्रकृति अलग अलग होती है, उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं, मुहावरे होते हैं, अलंकार होते हैं, जिन्हें एक से दूसरी भाषा में ढालना असंभव होता है; फिर भी जिनके अर्थ ही नहीं भाव तक को उस भाषा का जाननेवाला, उसे सात्म्य करके समझ लेता है, उसी भाँति प्रेक्ष्य-कला की

भिन्न भिन्न शैलियों की प्रकृति भी भिन्न भिन्न होती हैं और उन्हें समझने के लिये जब तक हम उनसे सात्म्य नहीं करते तब तक असफल रह जाते हैं, और पूछने लगते हैं—'यह आँख ऐसी क्यों बनी है'? 'इस अंग की मरोड़ ऐसी क्यों है'? इत्यादि।

क्या हम कभी शंका करते हैं कि संस्कृत में सारे वाक्य की रचना विशेष्य के लिंग, वचन एवं विभक्ति के अनुसार क्यों होती है वा उसमें एक एक पृष्ठ लंबे समास क्यों होते हैं, साथ ही क्या कभी इन भाषा-वैलक्षण्यों के कारण हमें अर्थ समझने में वा भाव अभिव्यक्त करने में अटक-भटक होती है? अँगरेजी में एक वेंट (= गया) से प्रथम, मध्यम और उत्तम तीनों ही पुरुषों के दोनों वचनों का काम चल जाता है। हिंदी में वचन के अनुसार गया, गए दो रूप होते हैं, ऊपर से क्रिया में लिंग-भेद भी रहता है। किंतु अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार दोनों ही भाषाओं के अपने अपने प्रयोग ठीक हैं अतः अशोभन नहीं लगते हैं और अर्थ-बोध कराने की पूर्ण शक्ति रखते हैं। यदि हम इसी सिद्धांत पर प्रेक्ष्य-कलाओं के पढ़ने में प्रवृत्त हों, तब कहीं सफल हो सकते हैं।

जिस कृति का संबंध कलाकार के मनोराज्य से, कल्पना-जगत् से, है उसके विषय में ऐसी शंका ही क्यों—'क्या यह स्वाभाविक है'? जिस समय कवि कहता है—'गगनचुंबी प्रासाद' उस समय तो हम यह नहीं कहते—'क्या अनर्गल बक रहा है'! उलटे

हम साधुवाद करते हैं—'प्रासाद की उच्चता को उक्ति द्वारा किस सफलता से व्यक्त किया है' ! किंवा जब कवि कहता है—'कै हंसा मोती चुँगै कै भूखो रहि जाय' तो हम यह तर्क नहीं करते—'क्या झूठ बक रहा है ! भला कहीं हंस भी मोती चुँगते हैं' ? बल्कि हम कहने लगते हैं—'महापुरुषों का सिद्धांत पर अटल रहना कैसे ढंग से दिखलाया है' ! फिर प्रेक्ष्य-कलाओं के ही प्रति अन्याय क्यों ? उन्हें इस दृष्टि से देखिए ही क्यों, कि शारीरक (ऍनॉटमी) अथवा—दृष्टि-क्रम (पर्सपेक्टिव) की जो वर्तमान धारणा है, उसके अनुसार वे ठीक हैं वा नहीं। यह धारणा थोड़े-थोड़े समय पर बदलती रही है और बदलती रहेगी। योरप की यथातथ शैली (रियलिस्टिक स्कूल), जिसके पीछे कितने ही भारतीय पागल हो रहे हैं, विगत कल की चीज हो गई। अब वहाँ इंप्रेश-निस्ट, पोस्ट-इंप्रेशनिस्ट, क्यूबिस्ट आदि नई नई शैलियाँ चल पड़ी हैं जो भारतीय कला से भी गूढ़ हैं। इसलिये, कला में, वह चाहे जिस शैली की हो, उसके रस की खोज करनी चाहिए। वह विज्ञान नहीं है कि उसके नियम इदमित्थ और त्रिकालवाध्य हो सकें।

देखना यह चाहिए कि कलाकार को जो बात कहनी थी उसे वह हृदय से कह सका है वा नहीं। यदि वह अपनी अभिव्यक्ति में सफल हुआ है तो अलम्। वह कृतार्थ हो चुका और कटाक्ष की सीमा के परे पहुँच गया।

हमारी मूर्तिकला, जिसमें हमारी युग-युग की संस्कृति और आध्यात्मिकता के संदेश भरे पड़े हैं और जो संसार के हजारों कोस में फैली हुई है, आज हमारी उपेक्षा की वस्तु हो रही है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसे समझें, उसका संरक्षण करें और उसे पुनरुज्जीवित करें। भारत और बृहत्तर भारत के योजन योजन पर ऐसे स्थान हैं जहाँ इस प्रकार की निधियाँ भरी पड़ी हैं। क्या हम उनका उद्घाटन उन उन क्षेत्रों की सरकारों पर छोड़ दें? यह तो हमारा दायित्व है। सरकारें हमारी यही मदद कर सकती हैं कि हमें अधिक से अधिक सुविधा प्रदान करें और निकली हुई चीजों की रखवाली का प्रबंध करें।

पृथ्वी के भीतर की बात तो जाने दीजिए, बाहर ही कितनी अमूल्य वस्तुएँ पड़ी हैं जो नष्ट हो रही हैं वा सात समुद्र पार चली जा रही हैं। ऐसी निधियों का संरक्षण हमारा धर्म है। कितने ही सिक्के सुनार की घरियों में गलकर पासे के रूप में बाजार में बिक रहे हैं। इनका मूल्य तो सोने नहीं, हीरे से भी बढ़कर है। फिर क्या हमारे देखते ही ये इस प्रकार नष्ट होंगे?

इस दुरवस्था का मूल है हमारी कला-अनभिज्ञता। हमें इस ओर संलग्न होना चाहिए। तभी हम समझ सकेंगे कि हमारे पुरखों ने हमारे लिये कितना महार्घ दाय छोड़ा है॥

फलकों का उल्लेख

मुख-चित्र—प्रसाधिका, § ६५.

फलक १ क—§ ३.
ख—§§ ६, ८.
,, २ §§ ६, ४४.
,, ३ § १२.
,, ४ § २५.
,, ५ §§ १४ ग, २५, २७.
,, ६ §§ ३५ ग, ४० नोट १.
,, ७ § ४५.
,, ८ §§ २६, ३८, ४८.
,, ९ क—§ ४८.
ख—§ ४८.
,, १० क—§ ४८.
ख—§ ५२.
,, ११ क—§ ३४
ख—§ ५६.
,, १२ § ६१ घ.
,, १३ § ६६.
,, १४ § ६८.
,, १५ क—§ ७३.
ख—§ ७६.

फलक १६ § ८२ [५].
,, १७ § २८ [३].
,, १८ § ८१ [१].
,, १९ § ८१ [२].
,, २० क—§ ८२ [८].
ख—§ १००.
,, २१ § ८९.
,, २२ § १०२.
,, २३ § १००.
,, २४ § १००.
,, २५ § ९५.
,, २६ § ९३.
,, २७ § १०१.
,, २८ § ९६.
,, २९ § ९७.
,, ३० § १०२.
,, ३१ § १०६.
,, ३२ § १०७.

क— ताम्रयुग की पूजनीय मानव-आकृतियाँ
भारत-कला-भवन, काशी

ख— एक ध्यानी व्यक्ति का मूर्ति-खंड
मोहनजोदड़ो से प्राप्त

फलक — २

मोहनजोदड़ो के टिकरे

अजातशत्रु की मूर्ति
ई० पू० ६ठीं शती; मथुरा संग्रहालय
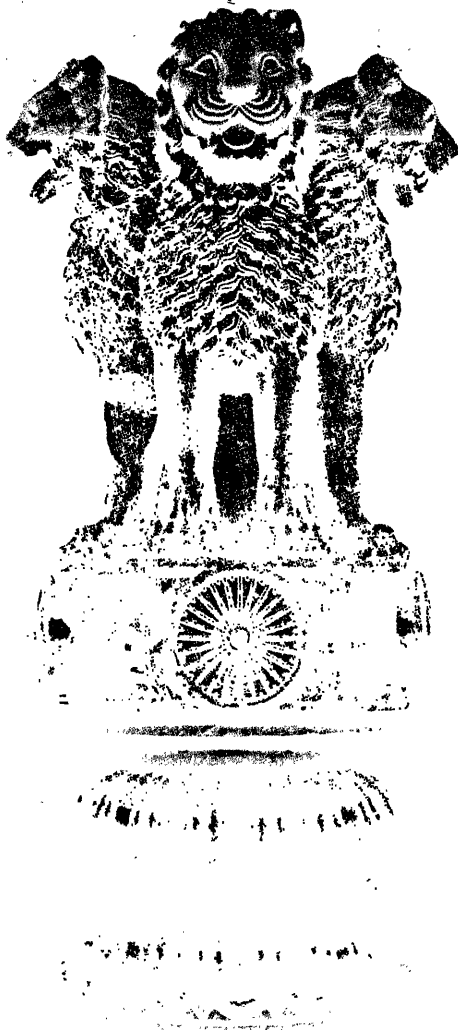
चौमुखे सिंह
अशोकीय; सारनाथ, काशी
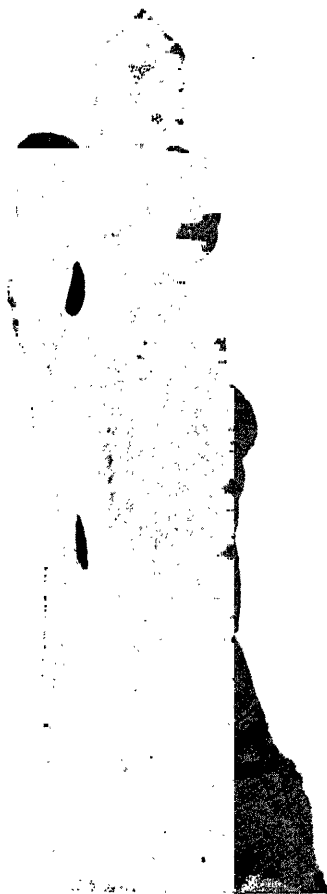
चामर-ग्राहिणी
अशोकीय; पटना संग्रहालय
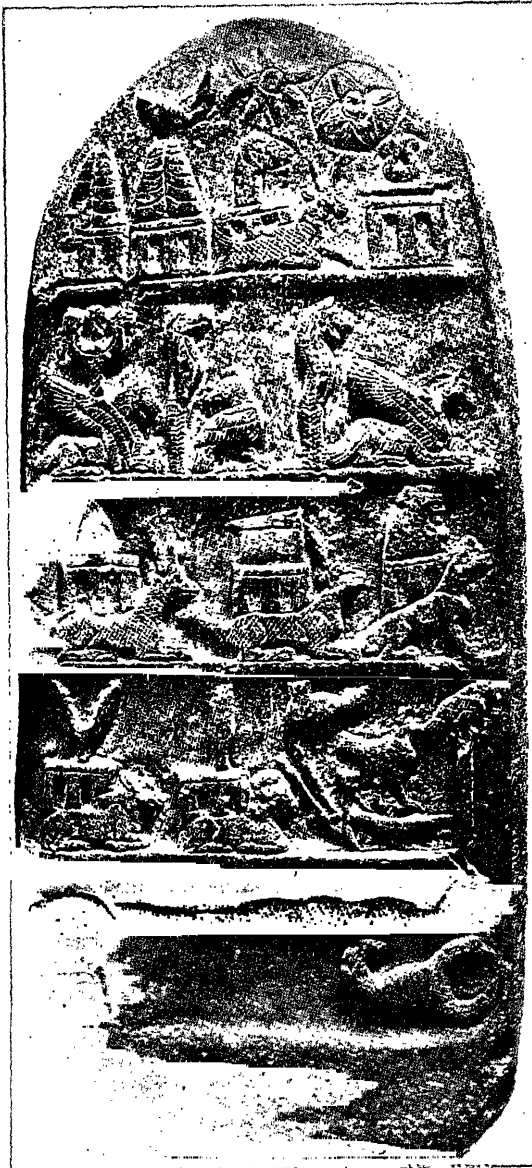
केसाई-फलक

लगभग १५वीं शती ई० पू०; केसाई-काल; बाबुल
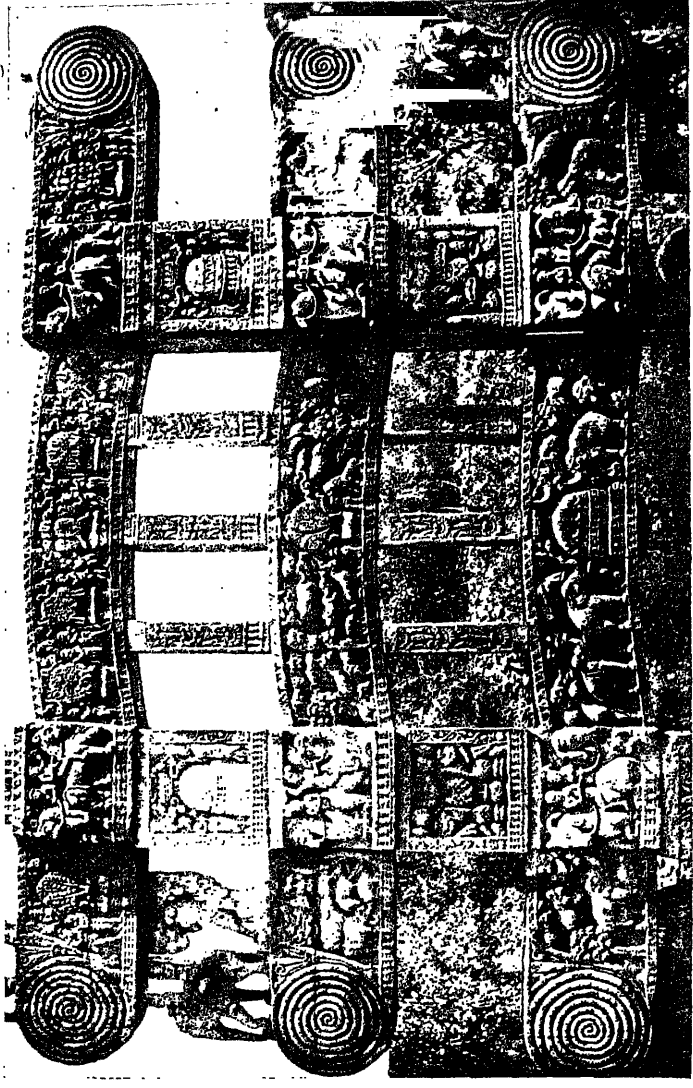
साँची के पूरबी तोरण की बँड़ेरियाँ
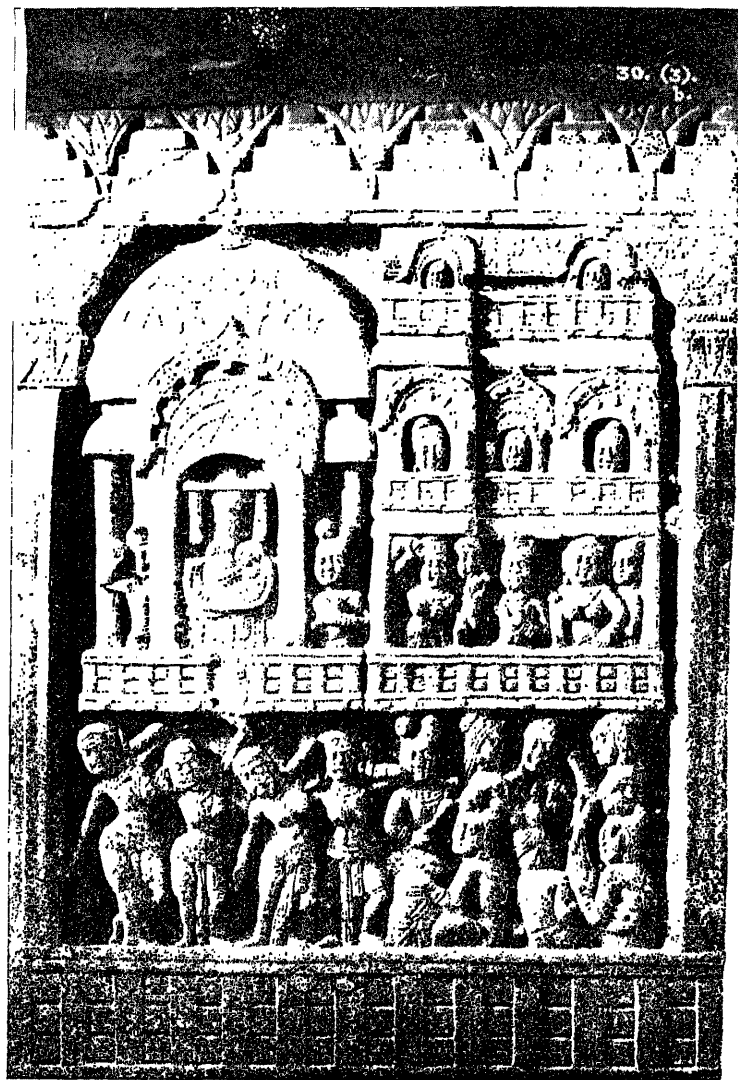
सुधर्मा देवसभा

शुंग; भरहुत; कलकत्ता संग्रहालय
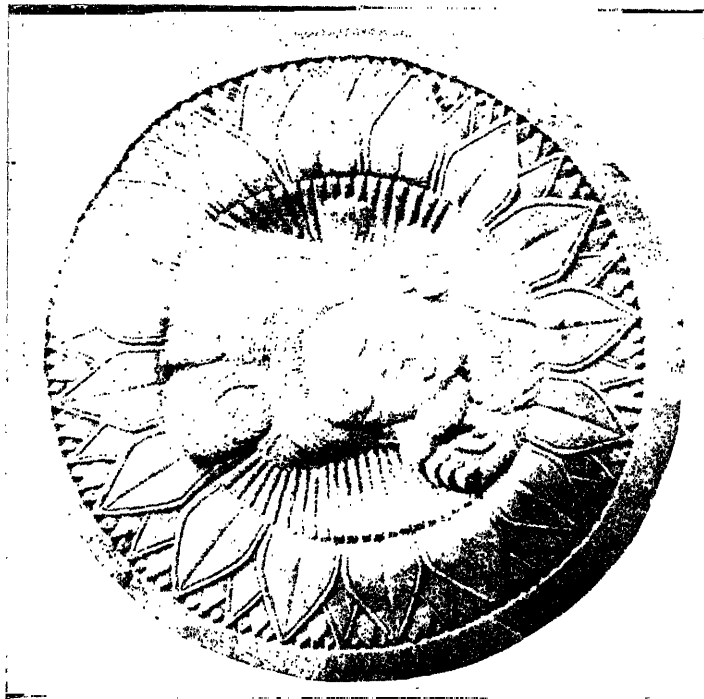
क—जेतवन-दान

ख—फुल्ला

शुंग; भरहुत; कलकत्ता संग्रहालय

क— वृक्षिका
शुंग; भरहुत; कलकत्ता संग्रहालय
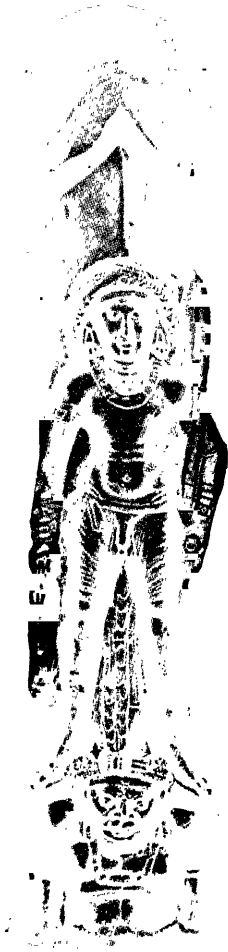
ख— शिव-लिंगम्
शुंग; गुडिमल्लम, मदरास

क— हर-गौरी वा यक्ष-यक्षिणी (पकाई काली मिट्टी की)
नंद वा मौर्य-काल; मसोन, जिला गाजीपुर
रामरत्न पुस्तकालय, काशी
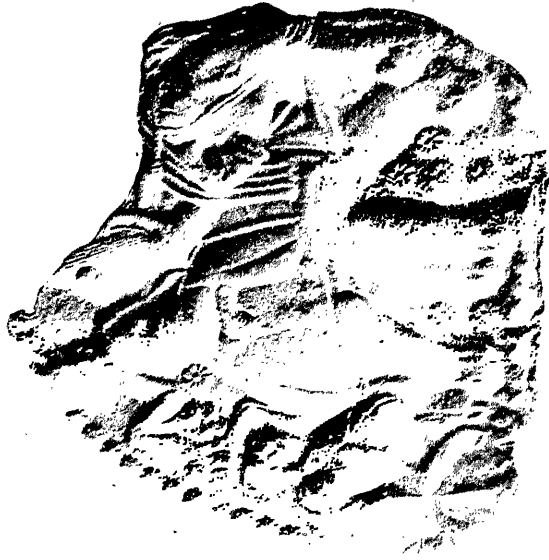
ख— वासवदत्ता-हरण (पकाई मिट्टी का टिकरा)
शुंग; कौशांबी; भारत-कला-भवन, काशी

फलक—१२

बुद्ध-मस्तक
कुषाण; गांधार शैली
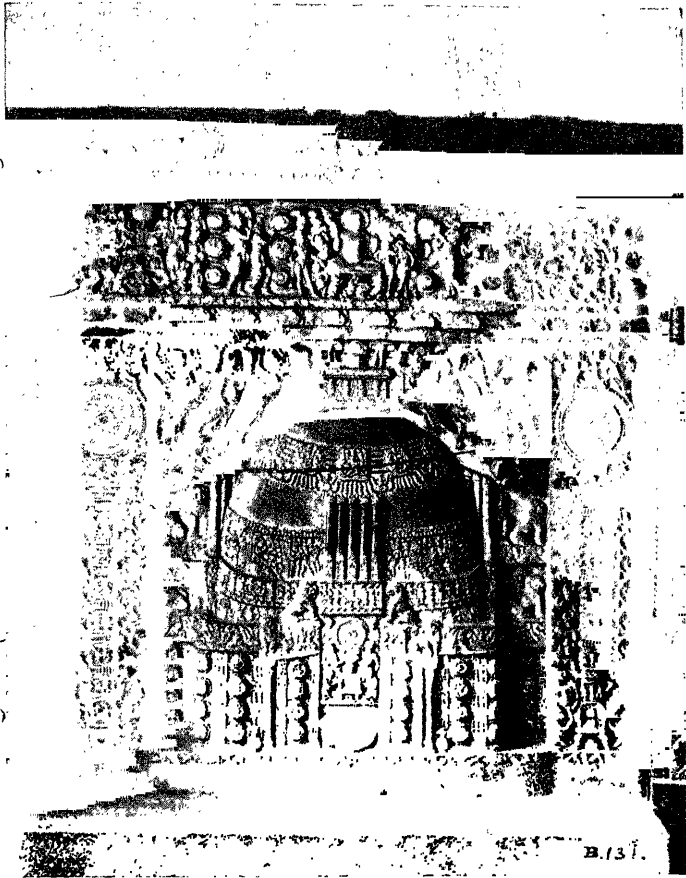
स्तूप का दृश्य

पिछला आंध्र-काल; अमरावती; मदरास संग्रहालय

बुद्ध-जीवनी का एक दृश्य
पिछला आंध्र-काल; नागार्जुनकोंडा, मदरास

क– माँ
भारशिव-काल; मथुरा संग्रहालय

ख– चतुर्मुख शिव
वाकाटक-काल; नचना, अजयगढ़ राज्य (मध्य-भारत)

कार्तिकेय
गुप्त; भारत-कला-भवन, काशी

नर-नारायण
गुप्त; देवगढ़ (बुंदेलखंड)
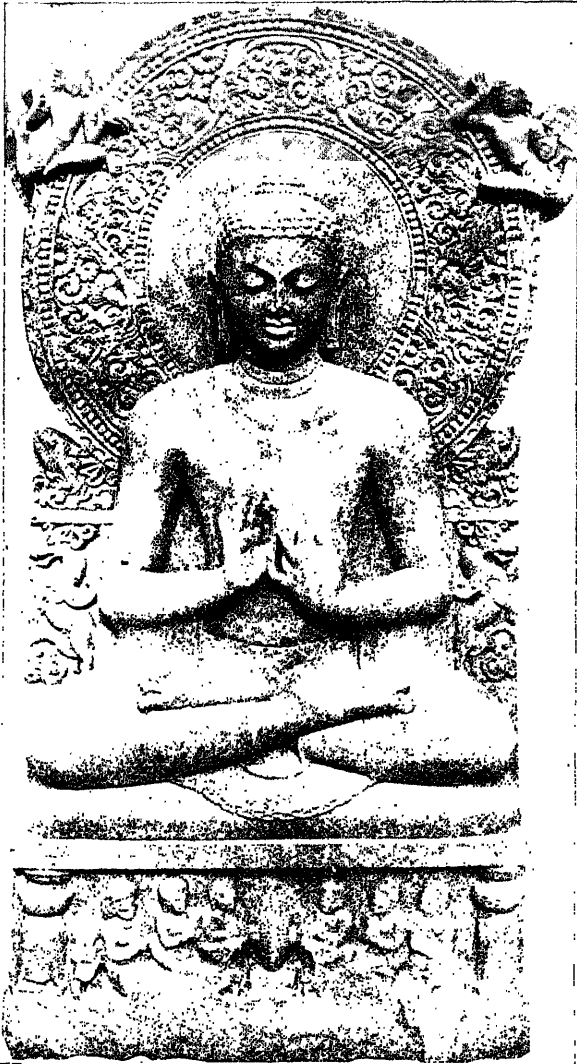
बुद्ध (धर्मचक्र-प्रवर्तन)
गुप्त; सारनाथ, काशी

खड़े हुए बुद्ध
गुप्त; मथुरा संग्रहालय

क—लोकेश्वर वा शिव
गुप्त; सारनाथ, काशी

ख—पद्मपाणि अवलोकितेश्वर
उत्तर-मध्यकालीन; महोबा; लखनऊ संग्रहालय
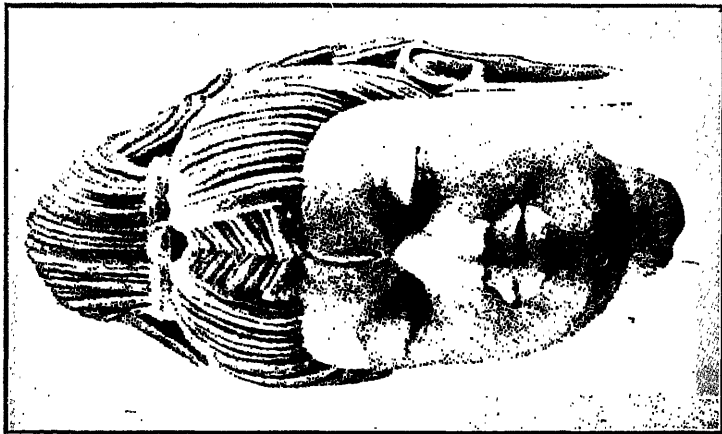
शिव-समूह
आरंभिक मध्यकाल; परेल, बंबई
प्रिंस आव वेल्स संग्रहालय, बंबई

शिव
मध्यकालीन; जावा

शिव-विवाह

उत्तर-मध्यकालीन; एटा; भारत-कला-भवन, काशी

फलक—२४

नृत्य-गणेश

उत्तर-मध्यकालीन; भारत-कला-भवन, काशी

फलक—२५
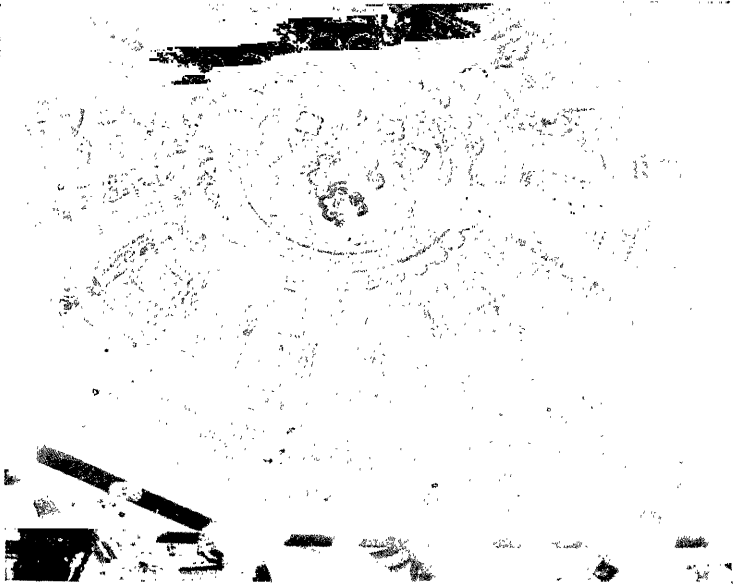
देलवाड़ा मंदिर की छत

१०३१ ई०; आबू; विमलशाह का मंदिर
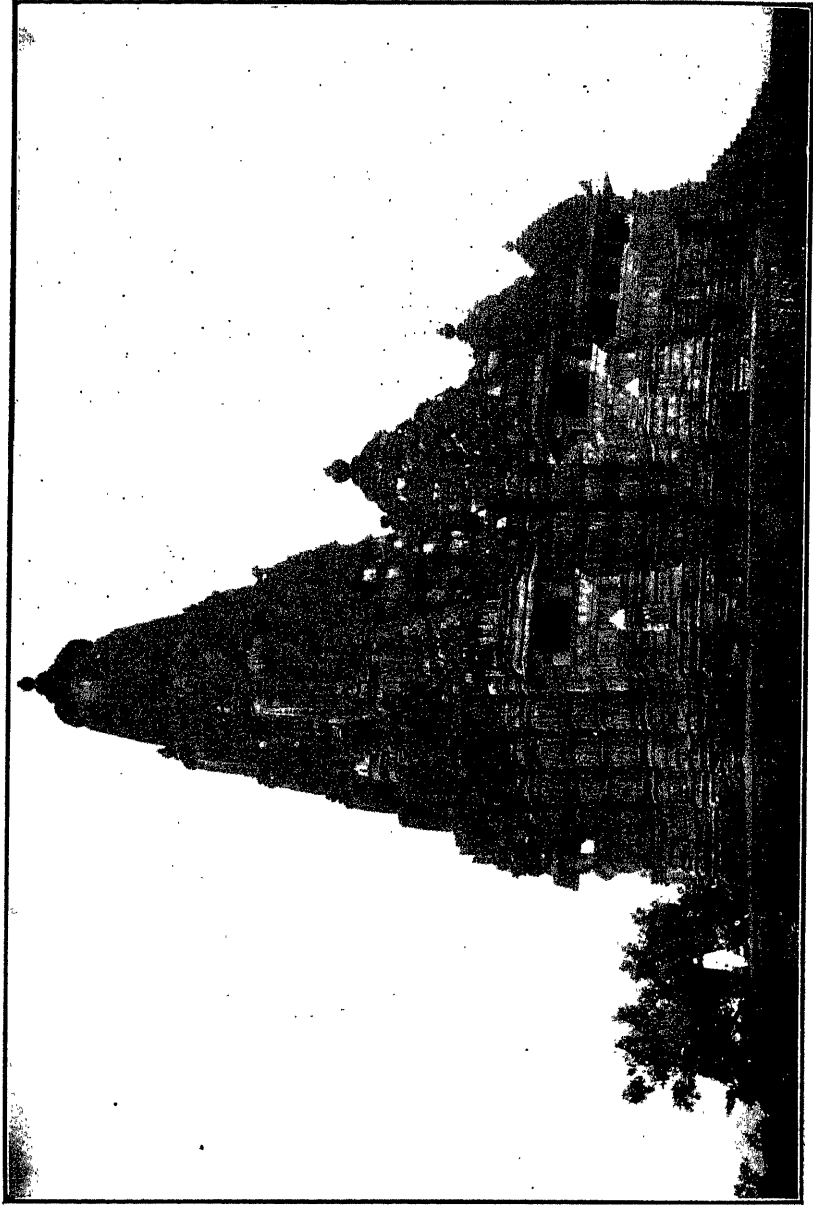
कंडरियानाथ महादेव का मंदिर; उत्तर-मध्यकालीन; खजुराहो (बुंदेलखंड)

वोधिसत्व (काँसे की मूर्ति)
पाल-कालीन; कुर्किहार (गया)
पटना संग्रहालय

फलक—२८
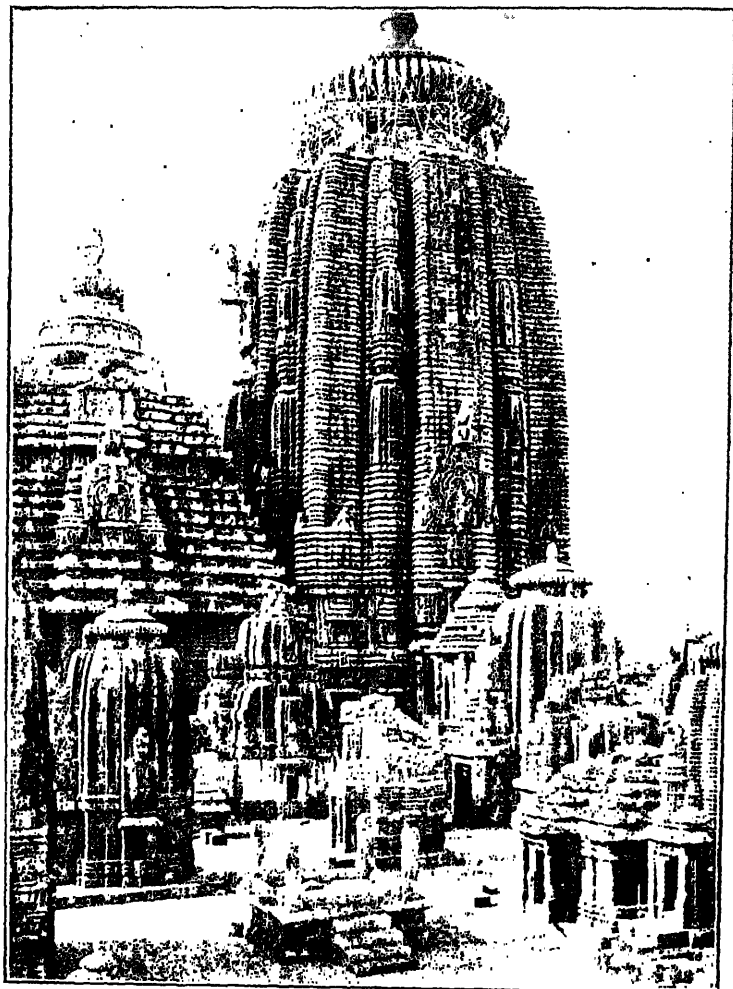
भुवनेश्वर के मंदिर
उत्तर-मध्यकालीन; उड़ीसा
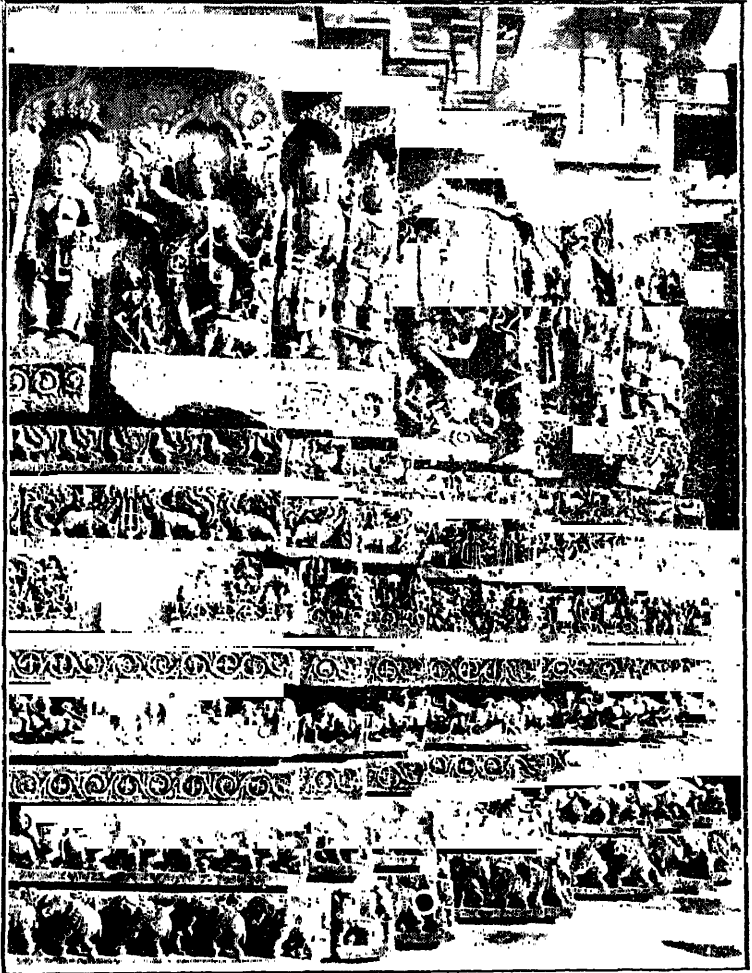
होयसालेश्वर मंदिर का वाहरी अंश
१२वीं शती; हालेविद (मैसूर)

प्रज्ञापारमिता

१३वीं शती; जावा

नटराज (काँसे की मूर्ति)
१५वीं-१६वीं शती; दक्षिण भारत

फलक—३२

कृष्णदेव राय और उनकी रानियाँ (काँसे की मूर्ति)
१६वीं शती; तिरुपति, जिला चित्तूर (मदरास)